मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)

भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकारों (अनुच्छेद-12 से 35) पर अमेरिकी संविधान का प्रभाव है। संविधान सभा में विभिन्न विषयों पर विचार के लिए अनेक समितियों का गठन किया गया था, जिन्होंने अपनी अलग-अलग सिफारिशें दीं, जिसके बाद मूल अधिकारों की पुन: जांच-परख के लिए एक उपसमिति भी गठित की गई, जिसके अध्यक्ष जे. बी. कृपलानी थे। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों के व्यापक प्रावधान अपनाए गए हैं, परंतु अमेरिकी संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों पर किसी भी प्रकार के प्रतिबंध नहीं हैं। इसलिए अमेरिकी संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों को निरपेक्ष अधिकार भी कहा जाता है, जबकि भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों पर अनेक प्रतिबंध हैं। इसलिए इन्हें **सापेक्ष अधिकार** भी कहा जाता है।

मौलिक अधिकार तथा कानूनी अधिकार में अंतर

कानूनी अधिकार, कानून के द्वारा संरक्षित और न्यायालय द्वारा बाध्यकारी होते हैं। मौलिक अधिकार भी कानून द्वारा संरक्षित और बाध्यकारी होते हैं, लेकिन दोनों में अंतर यह है कि कानूनी अधिकारों के उल्लंघन पर निचले न्यायालय और सामान्य प्रक्रियाओं के माध्यम से कार्यवाही होती है, जबकि मौलिक अधिकारों के हनन पर सीधे उच्चतम न्यायालय में अनुच्छेद-32 में वर्णित विशिष्ट रिटों के माध्यम से कार्यवाही की जाती है। कानूनी अधिकारों को विधायिका द्वारा बनाए गए सामान्य कानूनों से परिवर्तित किया जा सकता है। जबकि मौलिक अधिकारों के परिवर्तन के लिए संविधान संशोधन का सहारा लिया जाता है। सभी कानूनी अधिकारों का पूर्णतः समापन या उनमें अंशतः परिवर्तन किया जा सकता है, जबकि केशवानंद भारती वाद के पश्चात् उन मौलिक अधिकारों को संसद या विधान सभाएं संशोधित या परिवर्तित नहीं कर सकती हैं, जो आधारभूत ढांचे से संबंधित हैं। मौलिक अधिकारों को आपातकाल के अतिरिक्त कभी भी निलंबित नहीं किया जा सकता। 44वें संविधान संशोधन, 1978 के पश्चात् अपराध के लिए दोष-सिद्धि के विषय में संरक्षण (अनुच्छेद-20) व जीवन का अधिकार (अनुच्छेद-21) आपातकाल के दौरान भी समाप्त नहीं किए जा सकते।

भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकार

भारतीय संविधान का लगभग 70 प्रतिशत भाग भारत शासन अधिनियम, 1935 से प्रभावित है, परंतु इस अधिनियम में मूल अधिकारों का उल्लेख नहीं किया गया था। इसीलिए संविधान सभा में मूल अधिकार पर सर्वाधिक चर्चा हुई और इसे सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया। किसी भी देश के संविधान को उस देश का मूल या मौलिक कानून माना जाता है। भारत के संविधान के भाग-3 में अनुच्छेद-12 से 35 तक मौलिक अधिकारों का वर्णन किया गया है।

मौलिक अधिकारों की विशेषता

- मौलिक अधिकार, व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के लिए मूल माने जाते हैं, जिनके अभाव में व्यक्ति अपनी क्षमताओं एवं विशेषताओं का पूर्ण विकास नहीं कर सकता है।
- मूल अधिकार राज्य के विरूद्ध उपलब्ध होते हैं और राज्य भारतीय भू-भाग पर शक्ति प्रयोग की सर्वोच्च संस्था है। मूल अधिकार राज्य की तुलना में व्यक्ति को प्राथमिक बना देते हैं।
- मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के पश्चात् किसी भी व्यक्ति को सीधे उच्चतम न्यायालय में प्रवेश कर अपने अधिकारों को संरक्षित करने की शक्ति प्रदान की गई है। अतः मौलिक अधिकार का प्रावधान लोकतांत्रिक शासन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहचान है, क्योंकि नागरिकों के द्वारा अधिकारों के संरक्षण के लिए राज्य का निर्माण किया गया है। अतः मूल अधिकार साध्य है तथा सरकार इसे संरक्षित करने का एक साधन है।

राज्य की परिभाषा

मौलिक अधिकार के अध्याय की शुरूआत **राज्य** से होती है, क्योंकि मौलिक अधिकार राज्य के विरुद्ध प्राप्त होने वाले अधिकार हैं। अनुच्छेद-12 में **राज्य** का अभिप्राय स्पष्ट किया गया है, जिसके अनुसार राज्य में निम्नलिखित तत्वों का **उल्लेख किया गया है** -

1. भारतीय सरकार एवं संसद।
2. प्रत्येक राज्यों की विधायिकाएं एवं सरकार।

3. सभी प्रकार के स्थानीय शासन।
4. अन्य संस्थाएं।

संविधान की व्याख्या का अधिकार उच्चतम न्यायालय को प्रदान किया गया है। इसलिए राज्य के उपरोक्त संवैधानिक प्रावधानों की व्याख्या करते हुए उच्चतम न्यायालय ने कहा कि राज्य की सभी एजेंसियां अथवा प्राधिकरण भी राज्य की श्रेणी में शामिल किए जाएंगे। उदाहरण के लिए, दिल्ली विश्वविद्यालय, अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (AIIMS)। अत: राज्य की वित्त से संचालित संस्थाएं एवं राज्य के द्वारा नियुक्त पदाधिकारियों के द्वारा कार्य करने वाले अधिकरण भी राज्य के दायरे में शामिल होते हैं। संविधान लागू होने के दौरान भारत में समाजवादी आर्थिक प्रणाली का प्रयोग किया गया। अत: राज्य के द्वारा शिक्षा, स्वास्थ्य एवं भारी उद्योगों पर नियंत्रण स्थापित किया गया था, परंतु वर्ष-1991 में उदारीकरण एवं निजीकरण की नीति अपनाई गई, जिससे राज्य के कार्य सीमित हो गए, क्योंकि शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन व बैंकिंग जैसे क्षेत्रों में निजी उद्योगों को कार्य करने की अनुमति प्रदान कर दी गई है। राज्य के कार्यों के सीमित होने के कारण मूल अधिकारों का दायरा भी सीमित होने लगा, क्योंकि मूल अधिकार राज्य के विरूद्ध प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, सरकारी सेवाओं में आरक्षण का प्रावधान किया गया है, परंतु निजी सेवाओं में आरक्षण की व्यवस्था नहीं है। अत: निजीकरण से आरक्षण का अधिकार सीधे प्रभावित हो रहा है।

मूल अधिकार और विधि

- अनुच्छेद-13 में **विधि** शब्द की व्याख्या की गई है, जिसके अनुसार, यदि मूल अधिकारों एवं संविधान के निर्माण के पहले की विधियों (पूर्व संवैधानिक विधि) के बीच टकराव होता है, तो मूल अधिकार पूर्व संवैधानिक विधियों को ढंक लेती है, जिसे न्यायपालिका ने **'आच्छादन का सिद्धांत'** (Doctrine of Eclipse) कहा। इसके अनुसार मूल संवैधानिक विधियां समाप्त नहीं होंगी, अपितु यह मूल अधिकारों द्वारा ढ़क लिया जाएगा। यदि मूल अधिकार समाप्त हो गए, तो पूर्व संवैधानिक विधियां पुन: प्रभावी हो जाएंगी। वर्ष-1860 में निर्मित विधि पूर्व संवैधानिक विधि का उदाहरण है। संविधान वर्ष-1950 में लागू हुआ, जिसमें मूल अधिकारों का प्रावधान किया गया। (अनुच्छेद-13(i))।
- राज्य के द्वारा ऐसी विधि का निर्माण नहीं किया जाएगा, जो भाग-3 में वर्णित मूल अधिकारों के विरुद्ध हों या प्रतिकूल हों, तो ऐसी विधियों को न्यायपालिका द्वारा असंवैधानिक घोषित कर दिया जाएगा। राज्य के द्वारा निर्मित विधि का कोई एक भाग मूल अधिकारों के विरुद्ध हो, तो न्यायपालिका केवल उसी विशेष भाग को अवैध घोषित करेगी, समूचे विधि को अवैध घोषित नहीं करेगी। न्यायपालिका के द्वारा विधि के वैध एवं अवैध भागों के बीच अलगाव किया जाता है, जिसे **'पृथक्करण का सिद्धांत'** (Doctrine of Severability) कहा जाता है, (अनुच्छेद-13(ii))।
- अनुच्छेद-13(iii) में विधि की परिभाषा है। इन विधियों में अध्यादेश, उपनियम, विनियम, प्रथा और अधिसूचना भी सम्मिलित हैं। राज्य विधान सभा अथवा भारतीय क्षेत्र में किसी भी अधिकारी द्वारा निर्मित विधियों को भी इसमें सम्मिलित किया जाएगा।
- 24वें संविधान संशोधन, 1971 द्वारा अनुच्छेद-13(iv) जोड़ा गया। इसके अनुसार, अनुच्छेद-13 में विधि का उल्लेख किया गया है, जो संविधान संशोधन विधि से पृथक् है। संविधान संशोधन विधि अनुच्छेद-368 के अंतर्गत् निर्मित होती है, जिसके द्वारा संविधान में कोई अनुच्छेद अथवा भाग जोड़ा जाएगा अथवा इसे परिवर्तित एवं समाप्त किया जा सकता है। संविधान संशोधन के द्वारा मूल अधिकारों का उल्लंघन किया जा सकता है, क्योंकि अनुच्छेद-13 के प्रावधान संविधान संशोधन पर लागू नहीं होते।

मूल अधिकार के प्रकार (Types of Fundamental Rights)

संविधान में मूल अधिकारों को 7 भागों में विभाजित किया गया था, परंतु 44वें संविधान संशोधन, 1978 के द्वारा संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकारों के भाग से हटा लिए जाने के पश्चात् मूल अधिकारों को **छ: भागों में विभाजित किया जा सकता है** -

1. समानता का अधिकार (अनुच्छेद-14-18)।
2. स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद-19-22)।
3. शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद-23-24)।
4. धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद-25-28)।
5. संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार (अनुच्छेद-29-30)।

6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद-32)।

1. समानता का अधिकार (Right to Equality)

(A) विधि के समक्ष समानता (Equality before Law)

विधि के समक्ष समानता का विचार ब्रिटिश विचारक डायसी के विचारों में निहित है। यह विचार ब्रिटिश संविधान से लिया गया है। इसका अभिप्राय है कि सभी व्यक्तियों पर एक समान विधि लागू की जाएगी। किसी व्यक्ति की पद, प्रतिष्ठा या पंक्ति कुछ भी क्यों न हो, वह विधि के समक्ष समान माना जाएगा, अर्थात् किसी भी व्यक्ति को कोई विशेषाधिकार नहीं होगा। धन, संपत्ति, भूमि एवं वंश इत्यादि के आधार पर नागरिकों में विभेद नहीं किया जाएगा तथा कोई भी व्यक्ति कानून से ऊपर नहीं है और सभी को कानून के उल्लंघन पर दण्डित किया जाएगा। यह विचार समानता का नकारात्मक विचार है। जिसके अनुसार, व्यक्तियों के बीच कोई भेदभाव नहीं होगा और उन पर समान विधि लागू होगी। परंतु समाज में सभी व्यक्तियों की स्थिति एक समान नहीं है। यह विचार व्यक्ति की परिस्थितियों की उपेक्षा करता है और समानता का अवसर सभी के साथ समान व्यवहार मान लिया जाता है।

विधियों का समान संरक्षण (Equal Protection of Laws)

भारत जैसे विषमतामूलक समाज में सभी के लिए एक समान विधि का निर्माण करना समानता नहीं है, यह समानता का सकारात्मक विचार है, क्योंकि इससे वंचित लोगों को संरक्षित करने का प्रयत्न किया जाता है। यह अमेरिकी संविधान से लिया गया विचार है। सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर कानून में विभेद किया जा सकता है, अर्थात् सभी व्यक्तियों के लिए एक जैसे नियम नहीं बनाए जा सकते। समान लोगों के साथ, समान व्यवहार तथा असमान लोगों के साथ, असमान व्यवहार किया जाएगा। सभी पर समान करारोपण आरोपित करना सही नहीं है। महिलाओं, बच्चों तथा आम पुरुषों हेतु एक समान कानून नहीं बनाए जा सकते। अतः परिस्थितियों की भिन्नता के आधार पर अलग-अलग विधि लागू करना, समानता का उल्लंघन नहीं होगा। न्यायालय ने नागरिकों के इस तरह के वर्गीकरण को सही माना।

उच्चतम न्यायालय के द्वारा दिए गए एक ऐतिहासिक निर्णय में किन्नरों को तीसरे लिंग का दर्जा दिया गया। न्यायपालिका के अनुसार, किन्नरों को प्राप्त अधिकार सामाजिक अथवा जैविक आधार पर निर्धारित नहीं हैं, बल्कि यह मानवाधिकार का मुद्दा है। इस निर्णय के बाद किन्नरों को पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग के बजाए, तीसरे लिंग के रूप में मान्यता प्रदान किया गया है। न्यायपालिका ने इनके लिए सरकारी सेवाओं में आरक्षण का निर्देश भी दिया है, क्योंकि लिंग के आधार पर भेदभाव संविधान की मूल मान्यताओं के प्रतिकूल है।

विधि के समक्ष समानता (Equality Before Law)	**विधि का समान संरक्षण (Equal Protection of Law)**
1. सभी के साथ समान व्यवहार।	1. परिस्थितियों के अनुसार पृथक् व्यवहार।
2. भेदभाव का अभाव।	2. भेदभाव किया जाएगा।
3. सभी व्यक्तियों के लिए समान विधि लागू होगी।	3. विभिन्न समूहों एवं व्यक्तियों के लिए पृथक् विधियों का का प्रयोग होगा।
4. यह नकारात्मक है, क्योंकि राज्य व्यक्तियों के लिए सुविधा प्रदान नहीं करेगा।	4. यह सकारात्मक है, क्योंकि वंचित वर्गों का राज्य के द्वारा संरक्षण किया जाएगा।

भेदभाव का आधार

संविधान में वर्णित समानता के अधिकार में भेदभाव भी अंतर्निहित है, क्योंकि विधि के समान संरक्षण का स्पष्ट अभिप्राय है कि समान लोगों के साथ असमान व्यवहार नहीं होना चाहिए। राज्य के द्वारा निर्मित विभिन्न विधियों के आधार पर लोगों के बीच भेदभाव किया जा सकता है, परंतु यह भेदभाव पूर्ण नहीं होना चाहिए, जिसका परीक्षण न्यायपालिका करती है। लोगों के बीच भौगोलिक आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है और पूर्वोत्तर के लोगों या पहाड़ी लोगों हेतु अलग कानून बनाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, कुटीर उद्योग तथा बड़े उद्योगों में अंतर किया जा सकता है। व्यवसाय के आधार पर भी व्यक्तियों के बीच भेदभाव किया जा सकता है और सैन्य सेवा में कार्य करने वाले व्यक्तियों के अधिकारों को अनुशासन के

लिए सीमित किया जा सकता है। यह वर्गीकरण मनमाना नहीं होना चाहिए। जाति एवं धर्म के आधार पर लोगों के साथ भेदभाव तार्किक नहीं है। न्यायपालिका ने यह भी कहा कि महिलाओं को मंदिर में प्रवेश के अधिकार से वंचित करना भी अतार्किक भेदभाव है।

विधि के समक्ष समानता का अपवाद

- राष्ट्रपति एवं राज्यपाल केवल दो पदाधिकारी हैं, जिन्हें विधि के समक्ष समानता के सिद्धांत से छूट प्रदान की गई है, (अनुच्छेद-361)।
- राष्ट्रपति एवं राज्यपाल, दोनों अपने पद की शक्तियों के प्रयोग और कर्त्तव्यों के लिए न्यायपालिका के प्रति उत्तरदाई नहीं होंगे।
- दोनों के विरुद्ध उनके कार्यकाल के दौरान किसी प्रकार की दाण्डिक अथवा आपराधिक कार्यवाही न तो आरंभ होगी और न ही बनी रहेगी। उदाहरण के लिए, मध्य प्रदेश के राज्यपाल के विरूद्ध भ्रष्टाचार के मामले में प्राथमिकी दर्ज कराने का प्रयास किया गया, जिसे मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने अस्वीकृत कर दिया। राष्ट्रपति या राज्यपाल के अवकाश प्राप्त के बाद उन्हें किसी प्रकार की छूट प्राप्त नहीं होगी।
- राष्ट्रपति व राज्यपाल पर उनके कार्यकाल के दौरान या बाद में उनके व्यक्तिगत कार्यों के लिए सिविल कार्यवाही आरंभ की जा सकती है। इसके लिए 2 महीने पूर्व नोटिस देनी होगी, जिसमें व्यक्ति का नाम एवं पता तथा राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल के विरुद्ध कार्यवाही के कारण का उल्लेख होना चाहिए। जिसका अभिप्राय यह है कि राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल के विरूद्ध वैवाहिक विवाद के संबंध में कोई मामला न्यायालय में आरंभ किया जा सकता है।

(B) सामाजिक समानता

समता के आधार को विशेष क्षेत्रों में लागू करने हेतु अनुच्छेद-15 की व्यवस्था की गई है। यह अनुच्छेद धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर किसी भी प्रकार के विभेद से रोकता है। यह मूल अधिकार सिर्फ भारतीय नागरिकों को उपलब्ध हैं, **जो इस प्रकार हैं** –

1. विभिन्न आधारों पर भेदभाव पर प्रतिबंध

अनुच्छेद-15(1) के अनुसार, राज्य केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग व जन्म स्थान के आधार पर नागरिकों के मध्य विभेद नहीं करेगा। यह अनुच्छेद राज्य के विरुद्ध है। इस अनुच्छेद में **केवल** शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अभिप्राय है कि शैक्षिक योग्यता अथवा शारीरिक मापदंड के आधार पर व्यक्तियों के साथ भेदभाव किया जा सकता है।

2. विभिन्न स्थानों पर भेदभाव पर प्रतिबंध

डॉ. अंबेडकर के साथ अन्य सार्वजनिक स्थानों पर भेदभाव किया गया था। ब्रिटिश प्रशासन के द्वारा अनेक सड़कों और होटलों को भारतीयों के प्रवेश के लिए प्रतिबंधित किया गया था, जिसे मूल अधिकारों के द्वारा समाप्त किया गया है, (अनुच्छेद-15(2))। केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग व जन्म स्थान के आधार पर किसी भी नागरिक पर अयोग्यता, प्रतिबंध या देयता आरोपित नहीं होगी, **जो निम्नलिखित के लिए हैं** –

- दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों तथा सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों पर।
- ऐसे कुओं, तालाबों व स्नानघाट, सड़क, सार्वजनिक रिसोर्ट पर विभेद नहीं किया जाएगा, जो पूर्णतः या अंशतः राज्य वित्त द्वारा संचालित हैं अथवा सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए निर्मित हैं।

3. तार्किक भेदभाव

इस अनुच्छेद में राज्य के द्वारा वंचित वर्गों के लिए विभिन्न प्रावधान किए जा सकते हैं। इसलिए विधि के समान संरक्षण का विचार अनुच्छेद-15(3) में स्पष्ट दिखाई देता है। इस अनुच्छेद के अनुसार, राज्य, महिलाओं व बच्चों के उत्थान के लिए विशेष उपाय करेगा। अतः राज्य इनके संरक्षण व विकास हेतु विशेष सुविधाएं प्रदान कर सकता है। विशेष उपाय में शैक्षिक, आर्थिक एवं वैधानिक सभी प्रकार के प्रावधान शामिल होंगे। यह प्रावधान समानता के सिद्धांतों के विरूद्ध नहीं है।

वर्ष-1996 में उच्चतम न्यायालय के द्वारा विशाखा वाद में यौन शोषण को परिभाषित तथा इसे रोकने के उपायों का भी उल्लेख किया गया। उच्चतम न्यायालय ने यौन शोषण को **निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया** –

- शारीरिक संपर्क और महिलाओं के निकट जाने का प्रयत्न करना।
- यौन सुविधा की मांग अथवा अनुरोध।
- अश्लील सामग्री दिखाना।
- यौन प्रेरित संदेश भेजना।

- अन्य अस्वीकृत शारीरिक शाब्दिक यौन प्रकृति के व्यवहार।

रोकने के उपाय

उच्चतम न्यायालय के अनुसार, किसी भी संस्थान के मालिक का यह उत्तरदायित्व होगा कि वहां यौन शोषण प्रतिबंधित करे और कार्यस्थल पर यौन शोषण के लिए संस्था का मालिक उत्तरादाई होगा। उच्चतम न्यायालय के अनुसार, यौन शोषण जीवन के अधिकार का उल्लंघन है, क्योंकि जीवन के अधिकार का आशय, गरिमामय जीवन का अधिकार है। न्यायपालिका के द्वारा यह निर्देशित किया गया है कि सभी कार्यस्थलों पर यौन शोषण को परिभाषित और इसको प्रतिबंधित करने के उपायों का प्रचार एवं प्रसार किया जाएगा। सरकारी संस्थान अथवा सार्वजनिक क्षेत्र में यौन शोषण प्रतिबंधित होगा और इसके विरुद्ध दण्ड का स्पष्ट प्रावधान किया जाएगा। निजी क्षेत्रों में भी यौन शोषण को रोकने के लिए उपरोक्त नियम पारित किया जाए तथा कार्यस्थल पर वातावरण महिलाओं के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। इसलिए सुविधा, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता के अतिरिक्त कार्यस्थल का वातावरण महिलाओं के विरुद्ध नहीं होगा। यौन शोषण के आरोप में दोषी व्यक्ति के विरुद्ध आपराधिक और मालिकों के द्वारा ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही भी की जाएगी। यौन शोषण के विरुद्ध शिकायत दर्ज करने की व्यवस्था होनी चाहिए, जिसकी सुनवाई एक ऐसी समिति के द्वारा किया जाएगा, जिसकी अध्यक्ष महिला होगी और जिसमें कम से कम आधे सदस्य महिलाएं ही होंगी।

4. पिछड़े वर्गों के लिए विशेष प्रावधान

अनुच्छेद-15(4) में सामाजिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों तथा अनुसूचित जातियों व जनजातियों के उत्थान के लिए राज्य विशेष प्रावधान कर सकता है तथा राज्य द्वारा किया जाने वाले यह प्रावधान या कार्य विधि के समक्ष समानता का उल्लंघन नहीं माना जाएगा। चूंकि ये जातियां सदियों से दमित एवं सामाजिक विकास में निम्न स्थान पर रही हैं। अतः इनके उत्थान व विकास हेतु राज्य आवश्यक संरक्षण प्रदान कर सकता है।

5. शैक्षणिक संस्थाओं में आरक्षण

मंडल आयोग की रिपोर्ट के आधार पर वर्ष-1990 में वी. पी. सिंह सरकार के द्वारा सेवाओं में पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण का प्रावधान किया गया और वर्ष-2006 में तत्कालीन मानव संसाधन मंत्री अर्जुन सिंह के द्वारा शैक्षणिक संस्थाओं में आरक्षण की घोषणा की गई तथा एक नया संविधान संशोधन किया गया और अनुच्छेद-15(5) जोड़ा गया। यह अनुच्छेद 93वें संविधान संशोधन अधिनियम, 2006 द्वारा सम्मिलित किया गया। वर्ष-2004 के पश्चात् सामाजिक एवं शैक्षिक रूप में पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जातियों व जनजातियों के लिए केंद्रीय शैक्षणिक संस्थाओं में आरक्षण की व्यवस्था की गई, चाहे वे संस्थाएं राज्य के द्वारा अनुदान प्राप्त करतीं हों या नहीं। अतः यह आरक्षण निजी शैक्षणिक संस्थाओं के लिए भी है, लेकिन अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं पर यह आरक्षण लागू नहीं होगा।

6. आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों (EWS) के लिए आरक्षण (103वां संविधान संशोधन, 2019)

103वें संविधान संशोधन, 2019 के द्वारा भारतीय संविधान में आर्थिक रूप से पिछड़ेपन के आधार पर आरक्षण देने का प्रावधान किया गया। यह संविधान संशोधन राज्य को नागरिकों के किसी भी आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग की उन्नति के लिए विशेष प्रावधान करने को अनुमति देता है। 103वें संविधान संशोधन द्वारा भारतीय संविधान के अनुच्छेद-15 और अनुच्छेद-16 में संशोधन किया गया।

संविधान का अनुच्छेद-15(6) राज्य को अनुच्छेद-15(4) में उल्लेखित लोगों (OBC, SC & ST) को छोड़कर देश के सभी आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लोगों की उन्नति के लिए विशेष प्रावधान बनाने और शिक्षण संस्थानों में उनके प्रवेश हेतु आरक्षण देने की व्यवस्था करता है। यह प्रावधान अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं को छोड़कर राज्य द्वारा अनुदानित तथा गैर-अनुदानित सभी शैक्षणिक संस्थानों पर लागू होगा। शैक्षणिक संस्थानों में आरक्षण 10 प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए, जो कि वर्तमान आरक्षण के अतिरिक्त होगा। संविधान आर्थिक पिछड़ेपन को परिभाषित नहीं करता है। सरकार अनुच्छेद-15(6) के तहत् आर्थिक पिछड़ेपन को निर्धारित कर सकती है।

आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों (EWS) को रोजगार में आरक्षण

103वें संविधान संशोधन, 2019 द्वारा राज्य के अंतर्गत् सरकारी सेवाओं में नियुक्त एवं रोजगार में आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई है। इस संविधान संशोधन द्वारा संविधान में अनुच्छेद-16(6) को जोड़ा गया। संविधान का अनुच्छेद-16(6) राज्य को यह अधिकार देता है कि वह अनुच्छेद-16(4) में उल्लेखित वर्गों को छोड़कर देश के सभी आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिए सरकारी सेवाओं में नियुक्ति एवं पदों के आरक्षण का प्रावधान करें। आर्थिक पिछड़ेपन के आधार पर आरक्षण की अधिकतम सीमा 10 प्रतिशत होगी, जो वर्तमान आरक्षण के अतिरिक्त है।

(C) सरकारी सेवाओं में अवसर की समानता

आधुनिक भारत में ये राजकीय सेवाएं संपत्ति और प्रतिष्ठा के नए अवसर हैं। अनुच्छेद-16 सरकारी सेवाओं में सभी की नियुक्ति हेतु समानता का अवसर उपलब्ध कराता है।

राज्य के अंतर्गत् नियुक्ति एवं रोजगार में समानता

इसके अनुसार, राज्य के अंतर्गत् नियुक्ति और रोजगार में सभी नागरिकों को अवसर की समानता प्रदान की जाएगी, नियुक्ति का अभिप्राय सेवाओं में प्रवेश सुनिश्चित करना है। जबकि रोजगार का अवसर, सेवाओं में प्रवेश के बाद वेतन व भत्ते तथा विभिन्न सुविधाओं में भी समानता प्रदान की जाएगी, जिसे रोजगार में समानता कहा जाता है, (अनुच्छेद-16(1))।

भेदभाव पर प्रतिबंध

- यह निर्धारित करता है कि राज्य के अंतर्गत् रोजगार और नियुक्ति में केवल धर्म, प्रजाति (मूलवंश), जाति, लिंग, उद्भव, जन्म स्थान एवं निवास के आधार पर अथवा इनमें से किसी भी एक आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा, जबकि अन्य आधारों, जैसे-शैक्षणिक योग्यता, शारीरिक क्षमता, तकनीकी योग्यता के आधार पर विभेद किए जा सकते हैं, जो तार्किक व आवश्यक हैं। उपरोक्त व्यवस्था केवल सरकारी सेवाओं हेतु हैं, न कि निजी कंपनियों के लिए। निजी कंपनियां अपने अनुसार पदों हेतु नियोजन कर सकती हैं, (अनुच्छेद-16(2))।
- अनुच्छेद-15 में धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग व जन्म स्थान केवल पांच आधारों पर प्रतिषेध पर मनाही है। परंतु अनुच्छेद-16 में दो अतिरिक्त आधारों उद्भव व निवास स्थान के आधार पर भी विभेद को रोका गया है। इसका ध्येय यह है कि राज्य केवल अपने निवासियों को ही सरकारी नौकरियों में प्रश्रय न दे, बल्कि देश के सभी नागरिकों को समान अवसर दिया जाए।

निवास के आधार पर भेदभाव

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में प्रभावी क्षेत्रीय विषमता विद्यमान थी तथा शैक्षिक स्तर भी एक समान नहीं था। इसलिए किसी क्षेत्र विशेष में स्थानीय निवासियों को सेवाओं में प्राथमिकता प्रदान किया गया। अत: संविधान में भौगोलिक विषमता को भी स्वीकार किया गया है, जिसे लोकप्रिय रूप में **'भूमि पुत्र'** (Sons of the Soil) का विचार भी कहा जाता है, जिसके अनुसार, एक भू-भाग में विद्यमान रोजगार पर पहला अधिकार उस भू-भाग में पैदा हुए लोगों का होना चाहिए। संसद, विधि द्वारा राज्य विशेष को यह अधिकार दे सकती है कि वह सरकारी सेवाओं के किन्हीं कर्मचारियों के वर्गों के रोजगार एवं नियुक्ति के लिए निवास के आधार पर अपने राज्य के निवासियों को प्राथमिकता दे सकती है, अर्थात् भर्ती प्रक्रियाओं में निवास की शर्त लगाई जा सकती है, परंतु यह तभी हो सकता है, जब संसद के द्वारा विधि का निर्माण किया जाए। क्योंकि राज्य विधान सभाओं को यह अधिकार नहीं दिया गया है, (अनुच्छेद-16(3))।

राज्य के अंतर्गत् नियुक्ति एवं रोजगार में आरक्षण

यह अनुच्छेद भी विशेष उद्देश्यों हेतु समानता के नियमों में ढील देता है। इस अनुच्छेद के तहत् राज्य पिछड़े वर्गों को राज्य के अंतर्गत् नियुक्ति एवं रोजगार में आरक्षण प्रदान करेगा। राज्य द्वारा पिछड़े वर्गों को तब आरक्षण दिया जा सकता है, जब उस वर्ग को राज्य के अधीन सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो, अनुच्छेद-16(4) तभी लागू हो सकता है, जब निम्नलिखित शर्तों को पूरा करते हों। **प्रथम,** वह वर्ग पिछड़ा हो एवं **द्वितीय,** उसका सरकारी सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व न हो। तीसरा, सामाजिक एवं शैक्षिक रूप में पिछड़ा हो। इन शर्तों के पूर्ण होने पर ही आरक्षण की व्यवस्था की जा सकती है, किसी एक शर्त के आधार पर आरक्षण प्राप्त नहीं होगा।

पिछड़ेपन की पहचान के लिए गठित आयोग

अनुच्छेद-340 के अंतर्गत् राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह सामाजिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों की दशाओं की जानकारी एवं उनकी समस्याओं को दूर करने के लिए एक आयोग नियुक्त करेगा। अनुच्छेद-16(4) में या संविधान के किसी भाग में **पिछड़ेपन** को परिभाषित नहीं किया गया है। अत: इन वर्गों के पहचान व निर्धारण में समस्याएं आ रही हैं। सरकार ने समय-समय पर पिछड़े वर्ग की पहचान हेतु प्रयास किया है। स्वतंत्रता के बाद पिछड़े वर्गों की पहचान के लिए भारत में **काका कालेलकर आयोग** की स्थापना वर्ष-1953 में हुई। हालांकि यह आयोग अंतिम निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सका कि पिछड़े वर्ग के लोग कौन हैं? इनके अनुसार, केवल जाति को भारत में पिछड़े वर्ग का आधार नहीं माना जा सकता। काका कालेलकर आयोग ने सभी महिलाओं को पिछड़े वर्ग में सम्मिलित करने की सिफारिश की, परंतु सरकार ने काका कालेलकर आयोग की सिफारिश को स्वीकार नहीं किया। इसी समस्या के समाधान के लिए वर्ष-1979 में मंडल आयोग की स्थापना हुई,

जिसकी नियुक्ति जनता पार्टी सरकार के द्वारा की गई। मंडल आयोग ने पिछड़े वर्गों की पहचान के लिए **निम्नलिखित संकेतकों का प्रयोग किया** -

- सामाजिक।
- शैक्षणिक।
- आर्थिक ।

एवं यह निष्कर्ष निकाला कि भारत में पिछड़ी जातियां ही पिछड़े वर्ग में सम्मिलित की जा सकती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि भारत में जाति व वर्ग परस्पर अंतर्संबंधित हैं। इसलिए पिछड़ी जाति के लोग ही पिछड़े वर्ग तथा अगड़ी जाति के लोग ही अगड़े वर्ग में शामिल किए जा सकते हैं। अत: वर्ष-1990 में केंद्रीय सरकार ने मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू कर दिया तथा जाति को ही सामाजिक व शैक्षणिक पिछड़ेपन का आधार माना गया और सरकार ने अपने निर्णय में पिछड़े वर्गों को 27 प्रतिशत आरक्षण देने की घोषणा कर दी। फलत: अन्य वर्गों ने सरकार के इस कदम का विरोध किया। वर्ष-1991 में नरसिंह राव सरकार ने ऊंची जाति के आर्थिक रूप से कमजोर लोगों के लिए 10 प्रतिशत आरक्षण लागू करने की घोषणा की। इन सभी विवादों को न्यायालय में इंदिरा साहनी बनाम् भारत संघ के रूप में चुनौती दी गई, जो लोकप्रिय रूप में **'मण्डलवाद'** के नाम से जाना जाता है।

उच्चतम न्यायालय ने इंदिरा साहनी बनाम् भारत संघ, 1992 में ऐतिहासिक निर्णय देते हुए **निम्नलिखित मुद्दों का समाधान किया** -

- **पिछड़ेपन का अभिप्राय** - उच्चतम न्यायालय ने यह स्वीकार किया कि भारत में पिछड़ापन मूलत: सामाजिक एवं शैक्षणिक है, लेकिन इन दोनों आधारों का एक साथ प्रयोग होना चाहिए। संविधान में पिछड़ापन आर्थिक नहीं है, परंतु न्यायालय ने यह भी स्वीकार किया कि पिछड़े वर्गों में सभी की हैसियत एक समान नहीं है। इसलिए जो पिछड़े में अगड़े हैं, उन्हें आरक्षण का लाभ प्राप्त नहीं होगा, जिसे 'क्रीमी लेयर या मलाईदार परत' (Creamy Layer) भी कहा गया। अत: सभी पिछड़ों को एक ही समूह में शामिल करना तार्किक नहीं है। न्यायालय के अनुसार, भारत में पिछड़ी जातियों को ही पिछड़े वर्ग की श्रेणी में रखा जा सकता है, लेकिन पिछड़े वर्ग की एकमात्र पहचान जाति ही नहीं है, क्योंकि पिछड़ी जातियों में सम्मिलित वे लोग जो आर्थिक रूप में संपन्न हैं, उन्हें आरक्षण का लाभ नहीं मिलना चाहिए। अत: न्यायालय के अनुसार, ये लोग 'क्रीमी लेयर या मलाईदार परत' (Creamy Layer) में सम्मिलित किए जाएंगे। अत: क्रीमी लेयर को परिभाषित करने का दायित्व संसद का है।
- **क्रीमी लेयर या मलाईदार परत (Creamy Layer) की पहचान** - उच्चतम न्यायालय ने मंडलवाद के निर्णय में यह कहा कि पिछड़े वर्गों की सूची का निर्माण करने और पिछड़े वर्गों को आरक्षण की सीमा से बाहर रखने के लिए एक स्थाई सांविधिक संस्था का निर्माण किया जाए, साथ ही यह संस्था क्रीमी लेयर की सीमा का निर्धारण भी करे तथा नॉन-क्रीमी लेयर की सीमा में आने वाले लोगों को आरक्षण का लाभ नहीं मिलेगा। इसके फलस्वरूप पिछड़ा वर्ग आयोग का गठन भी किया गया, जिसकी सलाह के बाद संघ सरकार के द्वारा क्रीमी लेयर का निर्धारण किया जाता है।
- **आरक्षण की उच्चतम सीमा** - न्यायपालिका ने आरक्षण की उच्चतम सीमा 50 प्रतिशत निर्धारित किया है, जो प्रत्येक वर्ष भरी जाने वाली रिक्तियों के लिए लागू होगा। इसके अनुसार आरक्षण प्रदान करते समय अनुच्छेद-335 के अनुसार, सेवाओं में दक्षता या कुशलता को बनाए रखा जाना चाहिए। अत: 50 प्रतिशत से ज्यादा आरक्षण सेवाओं की कुशलता के विरुद्ध होगा। यह आरक्षण पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए होना चाहिए, परंतु यह अन्य वर्गों के प्रति भेदभावपूर्ण नहीं होना चाहिए।
- **प्रोन्नति में आरक्षण** - अनुसूचित जाति एवं जनजाति को वर्ष-1955 से ही राज्य के अंतर्गत् सेवाओं में आरक्षण प्रदान किया गया तथा उन्हें प्रोन्नति में भी आरक्षण दिया गया। इस वाद में उच्चतम न्यायालय ने प्रोन्नति में दिए जा रहे आरक्षण को अस्वीकार कर दिया। न्यायालय के अनुसार, आरक्षण का आशय केवल आरंभिक नियुक्ति से ही है। आरक्षण प्रदान करते समय सेवाओं की कुशलता को क्षतिग्रस्त करना उचित नहीं है।
- **आर्थिक पिछड़ापन** - नरसिंहा राव सरकार के द्वारा वर्ष-1992 में ऊंची जातियों के आर्थिक रूप में पिछड़े व्यक्तियों को भी आरक्षण प्रदान किया गया। लेकिन न्यायालय ने आर्थिक आधार पर दिए गए 10 प्रतिशत आरक्षण को रद्द कर दिया, क्योंकि संविधान में पिछड़ापन मूलत: सामाजिक पिछड़ापन है, आर्थिक पिछड़ेपन का संविधान में कोई उल्लेख नहीं है।

आगे ले जाने के नियम

- न्यायपालिका ने 'आगे ले जाने के नियम' (Carry Forward Rule) को स्वीकार किया और यह कहा कि आरक्षित वर्गों की रिक्त पदों को अगले वर्ष भरा जाएगा, परंतु आरक्षण की उच्चतम सीमा 50 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए।

क्रीमी लेयर का निर्धारण

क्रीमी लेयर का विचार उच्चतम न्यायालय के द्वारा दिया गया, परंतु क्रीमी लेयर की सीमा का निर्धारण सरकार के द्वारा पिछड़ा वर्ग आयोग की सलाह के आधार पर किया जाता है। पिछड़े वर्गों के वे लोग जो अत्यधिक संपन्न हैं, उन्हें न्यायालय ने क्रीमी लेयर कहा है। क्रीमी लेयर के निर्धारण के लिए वर्ष-1993 में राम नंदन समिति का गठन किया गया, जिसके अंतर्गत् निम्नलिखित व्यक्तियों को शामिल किया जाता है, **जिसका निर्धारण सरकार के द्वारा किया गया है** -

- संवैधानिक पद धारण करने वाले व्यक्ति, जैसे-राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री व न्यायाधीश इत्यादि।
- ग्रुप 'ए' तथा ग्रुप 'बी' की सेवा के क्लास सेकेण्ड रैंक के अधिकारी।
- सेना में कर्नल या उससे ऊपर रैंक के अधिकारी।
- डॉक्टर, अधिवक्ता, इंजीनियर, कलाकार, लेखक व सलाहकार इत्यादि प्रकार के पेशेवर।
- व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग में लगे व्यक्ति।
- शहरी क्षेत्रों में जिन लोगों के पास भवन हैं तथा जिनके पास एक निश्चित सीमा से अधिक की कृषि भूमि या रिक्त भूमि रखने वाले तथा जिन लोगों की सालाना आय 8 लाख से अधिक है या जिनके पास एक छूट सीमा से अधिक की संपत्ति है, ऐसे लोग आरक्षण में भागीदार नहीं होंगे। अतः आरक्षण पिछड़े वर्गों को ही मिलना चाहिए, जिनका सेवाओं में प्रतिनिधित्व अपर्याप्त हो।

तमिलनाडु के आरक्षण का बचाव

इंदिरा साहनी वाद में उच्चतम न्यायालय ने यह कहा कि आरक्षण 50 प्रतिशत से ज्यादा नहीं होगा, जबकि तमिलनाडु में 69 प्रतिशत आरक्षण प्रदान किया गया था। तमिलनाडु के इस आरक्षण को बचाने के लिए संसद के द्वारा 76वां संविधान संशोधन, 1994 पारित किया गया और तमिलनाडु के आरक्षण को नौवीं अनुसूची में शामिल कर दिया गया, क्योंकि परंपरागत् रूप में यह माना जाता है कि नौवीं अनुसूची का न्यायिक पुनरावलोकन नहीं होगा। वर्तमान में न्यायपालिका ने यह स्पष्ट कहा है कि वर्ष-1973 के बाद नौवीं अनुसूची में शामिल उन सभी विषयों का न्यायिक पुनरावलोकन होगा, जिनके द्वारा मूलभूत ढांचे का उल्लंघन किया जा सकता है।

प्रोन्नति में आरक्षण

मण्डलवाद में न्यायालय का मानना था कि अनुच्छेद-16(4) के अनुसार, आरक्षण केवल प्रारंभिक नियुक्तियों में प्रदान किया जा सकता है, पदोन्नति में नहीं। न्यायालय का तर्क था कि प्रोन्नति में आरक्षण से प्रशासनिक कार्यकुशलता प्रभावित होगी, जो अनुच्छेद-335 में निहित कार्यकुशलता तथा दक्षता की भावनाओं के खिलाफ है। अतः न्यायालय के आदेश को समाप्त करने हेतु सरकार द्वारा 77वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1995 पास किया गया तथा अनुच्छेद-16(4)(क) स्थापित किया गया, जिसमें यह व्यवस्था की गई कि अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को प्रोन्नति में आरक्षण दिया जाना वैधानिक है।

परिणामी ज्येष्ठता (Consequential Seniority)

वीरपाल सिंह चौहान वाद में न्यायालय ने यह कहा कि आरक्षण से प्रोन्नति प्राप्त करने वाले अधिकारी वरिष्ठता का फायदा नहीं प्राप्त कर सकते, अर्थात् अपने समकक्षों तथा ज्येष्ठ अधिकारियों से उन्हें वरिष्ठ नहीं माना जाएगा तथा ज्येष्ठता के निर्धारण का आधार प्रारंभिक नियुक्ति की तिथि होगी, न कि प्रोन्नति की। उपरोक्त प्रावधानों को रद्द करने हेतु संसद ने 85वां संविधान संशोधन, 2001 पारित किया तथा अनुच्छेद-16(4)(क) में संशोधन कर यह व्यवस्था दी गई कि प्रोन्नति में आरक्षण के साथ वरिष्ठता का लाभ अनुसूचित जाति व जनजाति के वर्गों को दिया जा सकता है, जिसे 'परिणामी वरिष्ठता का सिद्धांत' कहा जाता है, जिसके अनुसार, एक ही साथ सेवा में प्रवेश करने वाले सामान्य वर्ग एवं अनुसूचित जाति व जनजाति समुदाय के व्यक्तियों को प्रोन्नति देने में अनुसूचित जाति व जनजाति के उम्मीदवार को पहले प्रोन्नति दी जाएगी तथा इसके बाद अन्य प्रोन्नति में भी उन्हें प्राथमिकता दी जाएगी। बार-बार प्रोन्नति में मिलने वाले लाभ को ही 'परिणामी ज्येष्ठता' का विचार कहा गया है। अतः अनुसूचित जाति व जनजाति का उम्मीदवार एक बार ज्येष्ठ होने पर लगातार ज्येष्ठता का लाभ प्राप्त करेगा और अनारक्षित समुदाय का व्यक्ति अपने साथ भर्ती होने वाले बैच उम्मीदवार का जूनियर हो जाएगा।

बैकलॉग सीट

मण्डलवाद में उच्चतम न्यायालय ने आरक्षित वर्ग की सीटों को आगे ले जाने के विचार को स्वीकार कर लिया, परंतु न्यायपालिका ने आरक्षण की अधिकतम सीमा 50 प्रतिशत निर्धारित कर दिया था। इसीलिए **'आगे ले जाने के नियम'** से आरक्षित वर्गों को लाभ नहीं हुआ। उच्चतम न्यायालय ने सीटों के अग्रेषण को कुछ शर्तों के साथ वैधानिक ठहराया। इस व्यवस्था को समाप्त करने के लिए संसद ने 81वां संविधान संशोधन, 2000 पारित किया। इसके तहत् संविधान में अनुच्छेद-16 (4)(ख) जोड़ा गया, जिसमें यह कहा गया है कि यदि आरक्षित सीटें खाली रह जाती हैं, तो इन्हें अलग माना जाए तथा अगले वर्ष होने वाली नियुक्तियों में इन्हें न जोड़ा जाए, बल्कि अलग से रिक्तियों को भरा जाए। यह भर्ती 50 प्रतिशत सीमा के अंदर नहीं मानी जाएगी, (अनुच्छेद-335)। 82वें संविधान संशोधन, 2000 द्वारा यह प्रावधान किया गया कि संघ अथवा राज्य के किसी सेवा में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के किसी उम्मीदवार के लिए न्यूनतम अर्हता अंकों में कटौती की जा सकती है तथा उनके प्रवेश के लिए न्यूनतम अंक निर्धारित नहीं होंगी।

प्रोन्नति में आरक्षण का विवाद

वर्ष-2007 में **नागराजन वाद** में 77वें, 81वें, 82वें तथा 85वें संविधान संशोधन को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई, लेकिन उच्चतम न्यायालय ने इसे वैध मानते हुए प्रोन्नति में आरक्षण को स्वीकार कर लिया, परंतु न्यायपालिका ने यह कहा कि प्रोन्नति में आरक्षण के लिए **निम्नलिखित शर्त पूर्ण करना होगा** –

- सरकार को यह प्रमाणित करना होगा कि अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के उम्मीदवार सेवाओं में प्रवेश के बाद भी पिछड़ेपन के शिकार हैं।
- प्रोन्नति में आरक्षण से सेवाओं की कुशलता प्रभावित नहीं होगी।
- अनुसूचित जाति एवं जनजातियों का सेवाओं में अपर्याप्त प्रतिनिधित्व अभी भी अपर्याप्त हैं, जिसकी भरपाई के लिए उन्हें प्रोन्नति में आरक्षण प्रदान किया जा रहा है।

उच्चतम न्यायालय ने उत्तर प्रदेश सरकार के द्वारा अनुसूचित जातियां एवं जनजातियों को प्रोन्नति में आरक्षण के प्रावधान को अवैध घोषित कर दिया। न्यायपालिका के अनुसार, सरकार अनुसूचित जाति एवं जनजाति के पिछड़ेपन, सेवाओं की कुशलता तथा अपर्याप्त प्रतिनिधित्व का आंकड़ा प्रस्तुत करने में विफल रही। इसके बाद सरकार के द्वारा राज्य सभा में संविधान संशोधन विधेयक लाया गया, परंतु यह अभी भी पारित नहीं हो सका है।

विकलांगों के लिए आरक्षण

उच्चतम न्यायालय ने केंद्र सरकार व राज्य सरकारों को यह आदेश दिया है कि विकलांगों को सभी प्रकार की नौकरियों में 3 प्रतिशत का आरक्षण दिया जाए, लेकिन यह आरक्षण 50 प्रतिशत की सीमा के अतिरिक्त होगा। न्यायालय का मानना था कि सरकारी नियोजन विकलांगों के सशक्तिकरण का सबसे अच्छा उपाय है।

आरक्षण और व्यावहारिक राजनीति

आरक्षण की संकल्पना सामाजिक न्याय से संबंधित है। आरक्षण सामाजिक लोकतंत्र को व्यावहारिक रूप में प्राप्त करने का माध्यम है, क्योंकि समाज में किसी भी समूह की स्थिति यदि वंचित वर्ग की है या उस समूह के साथ ऐतिहासिक रूप में भेदभाव किया गया है, तो ऐसे समूह के सामाजिक एवं आर्थिक उत्थान के लिए आरक्षण दिया जा सकता है। यदि किसी सामाजिक समूह की स्थिति वंचित वर्ग की है, तो उसकी स्थिति को सुधारने का दायित्व वर्तमान पीढ़ी का है। अत: वर्तमान पीढ़ी को उसके साथ किए गए भेदभाव की भरपाई करनी होगी। सामाजिक न्याय की यह मान्यता है कि समाज में वस्तुओं, सेवाओं और पदों का वितरण उचित रूप में होना चाहिए। संविधान के निदेशक तत्वों में यह उल्लिखित है कि संपत्ति का केंद्रीकरण समाज के किसी समूह विशेष में नहीं होना चाहिए। इसी आधार पर अनुसूचित जातियों, जनजातियों एवं पिछड़े वर्गों के लोगों को आरक्षण दिया गया। नीति निदेशक तत्वों में उल्लिखित है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करेगा, जिसमें व्यक्तियों और समूहों के बीच आय, प्रतिष्ठा, सुविधाओं तथा अवसरों की समानता निर्मित हो सके। अत: इस संदर्भ में आरक्षण पिछड़े वर्गों की सशक्तिकरण में अभिवृद्धि करेगा। भारतीय संविधान में वर्णित प्रस्तावना सामाजिक न्याय को प्राप्त करने का स्पष्ट रूप में उद्देश्य स्थापित करता है।

समकालीन राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में एक विरोधाभासी प्रवृत्ति देखी जा रही है, जिसमें आरक्षण का लाभ वह वर्ग प्राप्त करने की कोशिश कर रहा है, जो सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक रूप में शक्तिशाली हो गया है, साथ ही अत्यंत महत्वपूर्ण रूप में अगड़ी जाति के लोगों ने भी आरक्षण की मांग उठाई है। आरक्षण से संबंधित विवाद मूलत: आरक्षण की प्रक्रिया और मानदंड से संबंधित हैं। आरक्षण की संकल्पना में स्वाभाविक रूप से अनारक्षण की संकल्पना भी निहित है, क्योंकि

जिन लोगों को आरक्षण का लाभ प्राप्त हो चुका है, उन्हें आरक्षण का लाभ नहीं मिलना चाहिए, जबकि व्यावहारिक रूप में आरक्षण की सूची में जातियों को निरंतर सम्मिलित किया जा रहा है, किसी को निकाला नहीं जाता। ऊंची जातियों के आरक्षण की मांग में अनेक विसंगतियां हैं। उदाहरण के लिए, संविधान में सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों के आरक्षण का उल्लेख है, आर्थिक रूप में पिछड़े वर्गों के आरक्षण का नहीं। इसलिए दोनों प्रकार के पिछड़ेपन में भेद किया जाना चाहिए। एक पिछड़ापन, जो सामाजिक कारणों से है, लेकिन दूसरा पिछड़ापन, जो निजी कारणों से है। इसलिए ऊंची जातियों के लोग सामाजिक पिछड़ेपन के शिकार नहीं हैं।

आरक्षण रोजगार प्रदान करने का माध्यम नहीं, अपितु सामाजिक न्याय का एक यंत्र है। यदि समाज में किसी की स्थिति आर्थिक रूप में पिछड़े वर्ग की है, तो उनके लिए शासन प्रणाली में अनेक उपाय हैं। प्रत्येक समस्या का एकमात्र उपाय आरक्षण ही नहीं है। आरक्षण की उच्चतम सीमा पहले ही 50 प्रतिशत निर्धारित की जा चुकी है। अत: ऊंची जातियों को आरक्षण प्रदान करने के लिए या तो इस सीमा का उल्लंघन करना होगा या पहले से आरक्षण प्राप्त समूहों के हिस्से में से कटौती करनी होगी, जो कि दोनों संभावनाएं व्यावहारिक प्रतीत नहीं होती हैं। इस उदारीकरण और निजीकरण के युग में जहां राजकीय सेवाओं की संख्या निरंतर कम होती जा रही है, इसके बावजूद सभी के लिए आरक्षण प्रदान करने का दावा न केवल अव्यावहारिक है, अपितु राजनीतिक लाभ की दुर्भावना से प्रेरित है।

गुजरात एवं हरियाणा में आरक्षण के लिए आंदोलन

गुजरात में पटेल समुदाय के द्वारा आरक्षण की मांग तथा हरियाणा में जाटों के द्वारा आरक्षण के लिए किया गया आंदोलन यह प्रदर्शित करता है कि आरक्षण एक राजनीतिक मुद्दा बन चुका है। जबकि दोनों राज्यों में दोनों जातियों की आर्थिक स्थिति शक्तिशाली है तथा ये सामाजिक रूप में पिछड़े भी नहीं हैं। राष्ट्रीय पिछड़े वर्ग आयोग के द्वारा यह अनुशंसा की गई कि जाट पिछड़ी जाति में शामिल नहीं हैं। इसके बावजूद संघ सरकार के द्वारा केंद्रीय सेवाओं के लिए जाटों को आरक्षण प्रदान कर दिया गया, जिसे न्यायपालिका ने लागू करने पर रोक लगा दी। गुजरात में आरक्षण की मांग करने वाले नेता हार्दिक पटेल के द्वारा एक ओर पटेल समुदाय के लिए आरक्षण की मांग की गई, तो दूसरी ओर, उन्होंने आरक्षण को समाप्त करने की भी मांग उठाई, जिससे यह प्रतीत होता है कि जिन जातियों को आरक्षण का लाभ प्राप्त हो चुका है, उनको भी आरक्षण की सूची से बाहर करने पर विचार करना चाहिए।

धार्मिक संस्थाओं का नियोजन

किसी धार्मिक मामलों के प्रबंध अथवा धार्मिक संस्थाओं में उस धर्म से संबंधित व्यक्तियों की नियुक्ति की जा सकती है, ऐसे में अवसर की समानता का उल्लंघन नहीं माना जाएगा। जैसे-हिंदू धार्मिक संस्थाओं या मंदिरों में हिंदुओं की नियुक्ति तथा मुस्लिम धार्मिक संस्थाओं में मुसलमानों की नियुक्ति की जा सकती है, (अनुच्छेद-16(5))।

(D) अस्पृश्यता का अंत

समानता का अभिप्राय, केवल अवसर की समानता नहीं, अपितु विशेषाधिकारों और विषमताओं का भी अंत करना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु अनुच्छेद-17 में अस्पृश्यता के समापन की व्यवस्था की गई है। अस्पृश्यता प्रतिबंधित है और अस्पृश्यता का किसी भी रूप में प्रयोग दंडनीय अपराध है। अस्पृश्यता का अंत एक निरपेक्ष अधिकार है। अत: इस अधिकार के विरुद्ध कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। अनुच्छेद-17 व्यक्ति एवं राज्य दोनों के विरुद्ध उपलब्ध है। अस्पृश्यता शब्द की परिभाषा का उल्लेख संविधान में नहीं दिया गया है। न्यायालय ने अस्पृश्यता शब्द को ऐतिहासिक करार दिया है, जहां जन्मजात कारणों से कुछ लोगों या जातियों को निम्न समझा जाता है।

भारतीय समाज की मूल संरचना जाति आधारित है, जिसका सबसे विकृत पक्ष अस्पृश्यता के रूप में देखा गया। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान ही अस्पृश्यता को समाप्त करने और अछूतों के लिए मंदिर में प्रवेश का आंदोलन आरंभ किए गए थे। गांधीजी ने **हरिजन आंदोलन** के माध्यम से समाज के इस बुराई को दूर करने का प्रयास किया, जबकि डॉ. अंबेडकर ने इस छुआछूत को एक दण्डनीय अपराध माना। अस्पृश्यता निवारण के लिए संसद के द्वारा विधि का निर्माण किया गया। संसद को मूल अधिकार को क्रियान्वित करने के लिए विधि के निर्माण का अधिकार है, (अनुच्छेद-35)।

अस्पृश्यता निवारण अधिनियम, 1955

इस अधिनियम के द्वारा भी अस्पृश्यता को परिभाषित नहीं किया गया, परंतु कुछ कार्यों को अस्पृश्यता के व्यवहार में शामिल किया गया। इसी संदर्भ में संसद ने वर्ष-1955 में **अस्पृश्यता निरोधक एक्ट** बनाया, जो संप्रति **सिविल अधिकार संरक्षण एक्ट, 1976** के नाम से जाना जाता है। छुआछूत का व्यवहार करने पर एक से दो वर्ष तक की सजा का प्रावधान है।

ऐसे व्यक्ति को संसद या विधान सभा के निर्वाचन में भाग लेने से भी प्रतिबंधित किया जा सकता है। इस अधिनियम में निम्नलिखित व्यवहारों को अस्पृश्यता फैलाने वाला माना गया तथा **दण्ड की व्यवस्था भी की गई है** -

- किसी व्यक्ति को पूजा स्थल पर जाने तथा पूजा करने से रोकना।
- सार्वजनिक स्थानों (जैसे-दुकानों व भोजनालयों इत्यादि) पर प्रवेश पर रोक।
- किसी व्यक्ति को सामाजिक संस्थाओं एवं अस्पतालों में प्रवेश से रोक।
- किसी भी मार्ग, तालाब व नलकूप के प्रयोग से रोक।
- किसी व्यक्ति को जातिसूचक शब्दों के द्वारा अपमानित करना।
- छुआछूत का किसी दार्शनिक या धार्मिक आधार पर औचित्य सिद्ध करना।

यदि किसी व्यक्ति के विरुद्ध अस्पृश्यता के प्रयोग की शिकायत की जाती है, तो न्यायपालिका के समक्ष स्वयं उस व्यक्ति को यह सिद्ध करना होगा कि उसके द्वारा अस्पृश्यता का व्यवहार नहीं किया गया। संसद के द्वारा अस्पृश्यता का व्यवहार करने वाले लोगों को दण्डित करने के लिए अलग न्यायालय के निर्माण का प्रस्ताव किया गया है।

(E) उपाधियों का अंत

वस्तुतः एक लोकतांत्रिक देश में व्यक्ति का महत्व उसकी क्षमता या योग्यता से है, उसके जन्म से नहीं। राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं द्वारा सदैव शिकायत की जाती रही कि ब्रिटिश शासन साम्राज्यवादी है और अपने हित तथा सार्वजनिक जीवन को भ्रष्ट करने के लिए उपाधियां प्रदान कर रही हैं। जे. बी. कृपलानी ने उपाधियों पर संविधान सभा में तीखा आक्षेप किया था। इसलिए स्वतंत्र भारत में शैक्षिक संस्थाओं या सैन्य प्रयोजनों के अलावा राज्य द्वारा उपाधियों को प्रदान करने पर प्रतिबंध है, क्योंकि उपाधियां एक प्रकार से समाज में विषमता पैदा करती हैं। **यह अनुच्छेद निम्नलिखित प्रकार की उपाधियों पर रोक लगाता है** -

राज्य के द्वारा उपाधियों पर प्रतिबंध

- इसके अंतर्गत् किसी भी प्रकार की उपाधियां राज्य के द्वारा नहीं प्रदान की जाएंगी, परंतु राज्य अकादमिक एवं सैन्य उपाधियां प्रदान कर सकता है। राज्य का अभिप्राय अनुच्छेद-12 में पहले ही परिभाषित किया जा चुका है।

विदेश से उपाधि पर प्रतिबंध

- कोई भी भारतीय नागरिक विदेशी राज्य से कोई उपाधि ग्रहण नहीं करेगा, जिसका अभिप्राय यह है कि भारतीय नागरिक किसी भी अन्य देश से भी उपाधि नहीं प्राप्त करेगा।

राष्ट्रपति की सहमति से उपाधि

- एक ऐसा व्यक्ति, जो भारत का नागरिक न हो, लेकिन राज्य के अंतर्गत् किसी ट्रस्ट में किसी पद पर हो, वह राष्ट्रपति के सहमति के बिना किसी विदेशी राज्य से उपाधि ग्रहण नहीं कर सकता।

उपहार भेंट एवं उपलब्धियों पर प्रतिबंध

- ऐसा व्यक्ति, जो राज्य के अंतर्गत् स्थापित किसी ट्रस्ट में कार्य कर रहा हो, वह राष्ट्रपति की सहमति के बिना किसी विदेशी राज्य से उपहार, भेंट या उपलब्धि प्राप्त नहीं कर सकता।

पुरस्कार एवं उपाधि

- वर्ष-1954 में भारत सरकार ने **चार प्रकार के सम्मान प्रारंभ किए** - भारत रत्न, पद्म विभूषण, पद्म भूषण एवं पद्म श्री। आलोचकों ने इनका तीव्र विरोध करते हुए कहा कि यह उद्देशिका में वर्णित प्रतिष्ठा एवं समता के अधिकार के विरुद्ध है। परिणामस्वरूप वर्ष-1977 में जनता पार्टी की सरकार ने इन सम्मानों को समाप्त कर दिया, परंतु इंदिरा गांधी सरकार ने वर्ष-1980 में पुनः इन सम्मानों को प्रारंभ कर दिया, जिसे न्यायपालिका में चुनौती दी गई, जिसमें न्यायपालिका ने महत्वपूर्ण निर्णय देते हुए कहा कि उपाधियों और पुरस्कारों में अंतर होता है। भारत रत्न जैसे पुरस्कार सामंतवादी उपाधियां नहीं हैं। न्यायालय के अनुसार, 'समानता का यह अभिप्राय यह नहीं है कि विशिष्टता या गुणवत्ता का सम्मान न किया जाए।' बालाजी राघवन वाद (वर्ष-1994) में न्यायपालिका ने पुरस्कार (Award) एवं उपाधि (Title) दोनों में अंतर बताया। इस वाद में न्यायपालिका ने पद्म विभूषण, पद्म भूषण एवं पद्म श्री को उचित ठहराया तथा कहा कि ये पुरस्कार हैं, उपाधि नहीं। न्यायपालिका के अनुसार, इनका प्रयोग किसी व्यक्ति के नाम के पहले नहीं होना चाहिए।

2. स्वतंत्रता का अधिकार (Right to Freedom)

(A) वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

संविधान में नागरिकों को वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान की गई है, (अनुच्छेद-19(1)(a)। वाक् का अभिप्राय बोलना है। जबकि अभिव्यक्ति में बोलना, किसी पुस्तक का प्रकाशन, फिल्म निर्माण अथवा लेखन भी शामिल हो जाता है। इसीलिए एक लोकतांत्रिक देश में इस अधिकार का अत्यधिक महत्व है। संविधान में वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लेख एक साथ किया गया है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में चुप रहना भी व्यक्ति का अधिकार है। अत: व्यक्ति को अभिव्यक्ति के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

फिल्मों पर प्रतिबंध

उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट किया है कि फिल्मों पर प्रतिबंध लगाने का यह आधार नहीं होना चाहिए, कि यह किसी व्यक्ति अथवा समूह को पसंद नहीं है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अंतर्गत् आलोचना असहमति एवं मतभेद का अधिकार सुरक्षित होना चाहिए और फिल्मों पर प्रतिबंध लगाने का सीधा दायित्व न्यायालय का नहीं है, अपितु इसके लिए फिल्म सेंसर बोर्ड की स्थापना किया गया है और सेंसर बोर्ड के द्वारा किसी फिल्म को अनुमति देने के बाद भीड़ के द्वारा फिल्म प्रदर्शन पर प्रतिबंध असंवैधानिक है। सेंसर बोर्ड के निर्णय को न्यायापालिका में चुनौती दी जा सकती है। न्यायपालिका के अनुसार, अभिव्यक्ति के सभी माध्यम एक समान रूप में प्रभाव पैदा नहीं करते और सिनेमा हाल में एक बंद कमरे में फिल्म दिखाई जाती है, जिसका जनमानस पर अत्यधिक संवेदनशील प्रभाव पड़ता है। इसलिए फिल्म अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है, जिस पर सेंसर लगाने के अलग मानदण्ड पर विचार होना चाहिए।

भारत में वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता निरपेक्ष नहीं है। इस स्वतंत्रता पर राष्ट्रीय सुरक्षा देश की एकता व अखण्डता, न्यायालय की अवमानना तथा मानहानि जैसे आधारों पर स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है, परंतु न्यायपालिका ने यह माना है कि एकता व अखण्डता के विरुद्ध भाषण ज्यादा बड़ा खतरा है। जबकि अवमानना तथा मानहानि के आधार पर स्वतंत्रता को प्रभावी रूप में प्रतिबंधित करना उचित नहीं है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं मानहानि

भारतीय दण्ड संहिता की धारा-499 में जानबूझकर किए गए मानहानि को दण्डनीय अपराध माना गया है, जिसका अभिप्राय है कि यदि कोई व्यक्ति दूसरे की मानहानि करता है, तो उसे 2 वर्ष तक की सजा और आर्थिक दण्ड अथवा दोनों दिया जा सकता है। इसके विरुद्ध सुब्रमणियम स्वामी के द्वारा उच्चतम न्यायालय में याचिका दायर की गई और यह कहा गया कि मानहानि के विरुद्ध आपराधिक दण्ड उचित नहीं है, बल्कि इसके लिए केवल आर्थिक दण्ड का प्रावधान होना चाहिए, जिससे पत्रकारों को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का वास्तविक अधिकार प्राप्त होगा।

उच्चतम न्यायालय के द्वारा इस तर्क को स्वीकार नहीं किया गया और न्यायालय ने कहा कि जीवन के अधिकार में (अनुच्छेद-21) प्रतिष्ठा (Reputation) का अधिकार भी शामिल है। इसलिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं जीवन के अधिकार (प्रतिष्ठा के अधिकार) के बीच समन्वय व सामंजस्य होना चाहिए। न्यायालय ने कहा कि प्रतिष्ठा का अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से ज्यादा महत्वपूर्ण हैं, जो बंधुता बनाए रखने के लिए आवश्यक है, जिससे एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति के ऊपर अनावश्यक आरोप न लगा सके। लोकतंत्र में असहमति का अधिकार है, जिसमें दूसरे व्यक्ति की प्रतिष्ठा पर आघात पहुंचाना सही नहीं है। सहिष्णुता का अभिप्राय दूसरे व्यक्ति के विचारों का सम्मान करना है, न कि दूसरे व्यक्ति की प्रतिष्ठा पर आक्रमण करना। न्यायपालिका के अनुसार, भारतीय संविधान में स्वतंत्रता पर अनेक प्रतिबंध हैं।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं देशद्रोह

भारत के दण्ड संहिता (Indian Penal Code) की धारा-124 (A) के अनुसार, विधि द्वारा स्थापित सरकार के विरुद्ध घृणा, मानहानि अथवा दुर्भावना फैलाना एक दण्डनीय अपराध है, जिसके लिए तीन वर्ष अथवा आजीवन सजा का प्रावधान है। इसके साथ ही आर्थिक दण्ड भी आरोपित किया जा सकता है। दुर्भावना का अभिप्राय विधि द्वारा स्थापित सरकार के प्रति निष्ठा का अभाव तथा शत्रुता की भावना का प्रसार करना है, जिसे देशद्रोह माना जाता है।

देशद्रोह का यह कानून वर्ष-1860 में ब्रिटिश सरकार के द्वारा निर्मित किया गया, जिसका अत्यधिक दुरुपयोग किया जा सकता है। जबकि इंग्लैण्ड, न्यूजीलैण्ड, अमेरिका, कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में ये कानून समाप्त किए जा चुके हैं। इस कानून से यह प्रतीत होता है कि सरकार की आलोचना का अभिप्राय देशद्रोह है। जबकि लोकतंत्र में सरकार की आलोचना अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण भाग है। भारतीय संविधान में यह उल्लिखित है कि जो विधि संविधान लागू होने के पूर्व निर्मित है और मूल अधिकार के विरुद्ध है (अनुच्छेद-13), तो मूल अधिकारों को इस विधि की तुलना में प्राथमिकता दी

जाएगी। भारतीय दण्ड संहिता की धारा-121, 121(A) और 122 में यह उल्लिखित है कि सरकार के विरुद्ध युद्ध छेड़ना अथवा इस युद्ध में सहायता करना दण्डनीय अपराध है। इसलिए धारा-124(A) को बनाए रखना विसंगतिपूर्ण प्रतीत होता है।

उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट कहा है कि देशद्रोह के संबंध में धारा-124(A) संवैधानिक है। विचारकों के अनुसार, सरकार के विरुद्ध केवल नारेबाजी देशद्रोह नहीं कहा जा सकता, बल्कि व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के द्वारा हिंसा किया जाए अथवा हिंसा को बढ़ावा दिया जाए, तो इसे देशद्रोह मानना उचित होगा।

प्रेस की स्वतंत्रता

भारत में प्रेस को प्रतिबंधित करने के लिए वर्ष-1951 में प्रेस आक्षेपणी एक्ट-1951 तथा वर्ष-1976 में संसद ने एक अलग एक्ट प्रकाशन सामग्री आक्षेपणी निवारक अधिनियम, 1976 बनाया। उच्चतम न्यायालय ने प्रिंटर्स मैसूर केस में कहा कि भारत में प्रेस को भी मानहानि के नियमों से छूट नहीं है। उच्चतम न्यायालय ने कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया बनाम् भारत संघवाद में कहा कि वाक् स्वतंत्रता या अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में बंद या हड़ताल आयोजित करने की स्वतंत्रता नहीं है। संविधान निर्माताओं ने उन आपवादिक परिस्थितियों की कल्पना भी की, जहां पर ये अधिकार व्यक्ति को प्राप्त नहीं होंगे। इसलिए यदि देश में आपातकाल की घोषणा, युद्ध या वाह्य आक्रमण के आधार पर होती है, तो ये उपरोक्त अधिकार निलंबित हो जाएंगे। इसलिए संविधान निर्माताओं ने व्यक्ति के अधिकारों और राष्ट्र की सुरक्षा में एक सूक्ष्म संतुलन स्थापित किया है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में मीडिया की स्वतंत्रता भी शामिल है।

क्योंकि संविधान में प्रेस की स्वतंत्रता का कहीं पर भी पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है। न्यायपालिका के अनुसार, वर्तमान में प्रेस का संगठित विकास हो और प्रेस का संचालन एक व्यापार एवं उद्योग भी बन चुका है। इसलिए प्रेस की स्वतंत्रता पर आरोपित प्रतिबंध व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए लागू नहीं होंगे। इसलिए भारत में प्रेस को सेंसर करने का अधिकार है।

भारत में प्रेस को अलग से कोई विशेषाधिकार प्राप्त न होने के कारण प्रेस की स्वतंत्रता के लिए वही मापदण्ड है, जो सामान्य नागरिक के लिए हैं। प्रेस को कर के प्रावधान से छूट नहीं है तथा औद्योगिक क्षेत्र की सामान्य विधि भी प्रेस पर लागू होती है। इसके अतिरिक्त कर्मचारियों की सेवा शर्तों के नियमन वाले कानून भी यहां लागू होते हैं। परंतु न्यायालय के निर्णयों के अनुसार **प्रेस को निम्नलिखित अधिकार प्राप्त हैं - प्रथम**, प्रेस पर ऐसा कोई कानून नहीं लागू किया जा सकता, जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कम करे, एवं **द्वितीय,** प्रेस पर अलग से कोई कर या दायित्व नहीं थोपा जा सकता।

सूचना का अधिकार

अभिव्यक्ति की आजादी को व्यापकता प्रदान करते हुए इंडियन एक्सप्रेस वाद में न्यायालय ने यह कहा कि नागरिकों को यह अधिकार है कि वह सरकार तथा सरकारी कार्यवाही से संबंधित तथ्यों की जानकारी प्राप्त करें। यह लोकतांत्रिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण लक्षण है, परंतु सूचना के अधिकार को सुरक्षा एवं लोकहित इत्यादि बंधनों के अधीन किया जा सकता है। लोकतांत्रिक मांगों को देखते हुए सरकार ने वर्ष-2005 में **सूचना का अधिकार विधेयक** को पास किया तथा लोगों को सूचना मुहैया कराया जाना अनिवार्य किया गया। इस हेतु एक केंद्रीय सूचना आयोग का गठन किया गया तथा प्रत्येक विभाग में सूचना अधिकारी की नियुक्ति की गई। न्यायालय ने निर्धारित किया है कि प्रत्येक मतदाता को अपने उम्मीदवारों की संपत्ति, आपराधिक मामलों तथा अन्य जानकारी प्राप्त करने का अधिकार है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और सूचना तकनीकी अधिनियम, 2000

भारतीय संविधान में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मूल अधिकारों का अत्यधिक महत्वपूर्ण भाग है। वर्तमान सूचना व तकनीकी के युग में सूचना साधनों के द्वारा व्यक्ति की जीवन में अनेक सकारात्मक साधनों का विकास हुआ है, तो दूसरी ओर, साइबर अपराध की घटनाएं भी बढ़ रही हैं। इसलिए इस अधिनियम के धारा-66(A) के अंतर्गत् **निम्नलिखित बिंदुओं को दण्डनीय अपराध की श्रेणी में रखा गया था** -

- कंप्यूटर के द्वारा अथवा किसी अन्य संचार साधनों के द्वारा दूसरे व्यक्ति को आक्रामक संदेश भेजना।
- ऐसी सूचना, जो पूर्णत: आक्रामक और नुकसान पहुंचाने वाली प्रकृति की हो।
- ऐसी झूठी सूचना, जो किसी व्यक्ति के लिए असुविधा, खतरा, अपमान, आपराधिक, प्रताड़ना, घृणा एवं असद्भावपूर्ण उद्देश्य के लिए संप्रेषित किया जाए तथा जिसके लिए कंप्यूटर अथवा संचार साधनों का प्रयोग हो।
- ऐसा इलेक्ट्रॉनिक मेल अथवा संदेश, जिसके द्वारा किसी को असुविधा अथवा धोखा अथवा गुमराह किया जाए, ऐसे कार्यों के लिए 3 वर्ष की सजा तथा जुर्माना का भी प्रावधान किया गया है।

सूचना तकनीकी अधिनियम की धारा-66(A) समाप्त

उच्चतम न्यायालय ने आई. टी. अधिनियम की धारा-66(A) को समाप्त कर दिया है, जिसके अंतर्गत् प्रावधान था कि वेबसाइटों पर **अपमानजनक** सामग्री डालने पर पुलिस को किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार करने का अधिकार था। विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को **आधारभूत** बताते हुए न्यायामूर्ति जे. चेलमेश्वर और न्यायामूर्ति आर. एफ. नरीमन की न्यायिक पीठ ने कहा कि सूचना व प्रौद्योगिकी अधिनियम की धारा-66(A) से लोगों के जानने का अधिकार प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है। यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के विरुद्ध अनावश्यक प्रतिबंध है।

शांतिपूर्ण एवं बिना हथियार के सम्मेलन का अधिकार

सभी नागरिकों को शांतिपूर्ण तरीके से भारत भूमि के किसी भी भाग पर सम्मेलन करने का अधिकार प्राप्त है, जो बिना हथियार के हों। नागरिक जुलूस या प्रदर्शन एवं सभा भी कर सकते हैं। इसमें सार्वजनिक बैठक में भाग लेने के अधिकार को भी सम्मिलित किया गया है, परंतु न्यायालय के अनुसार हड़ताल का अधिकार सम्मिलित नहीं है, (अनुच्छेद-19(1)(B))।

समुदाय या संघ बनाने की स्वतंत्रता

यह अनुच्छेद समस्त भारतीय नागरिकों को समुदाय या संघ बनाने की स्वतंत्रता प्रदान करता है। इस अधिकार के बिना लोकतांत्रिक प्रक्रिया ठप हो जाएगी। इसी अनुच्छेद के तहत् दलों, मजदूर संगठनों द्वारा दबाव समूह का निर्माण किया जाता है। समुदाय या संघ में समूह राजनीतिक दल, क्लब, व्यापार संगठन, कंपनी, साझा फर्म इत्यादि सम्मिलित हैं। 97वें संविधान संशोधन, 2011 के तहत् सहकारी समिति का निर्माण भी समुदाय निर्माण की स्वतंत्रता में सम्मिलित हो गया है, (अनुच्छेद-19(1)(C))।

अबाध भ्रमण की स्वतंत्रता

भारत में सभी नागरिकों को भारतीय क्षेत्र में कहीं भी बिना रोक-टोक भ्रमण करने का अधिकार प्राप्त है तथा कोई राज्य अन्य राज्यों के निवासियों को आने-जाने से रोक नहीं सकता। अत: यह अनुच्छेद क्षेत्रवाद की प्रवृत्तियों के विरोध में है। संचरण के दो रूप हैं - **प्रथम,** आंतरिक भाग में संचरण एवं **द्वितीय,** विदेश यात्रा। यह अनुच्छेद प्रथम प्रकार के संचरण की रक्षा करता है, जबकि विदेश जाने का अधिकार जीवन के अधिकार में सम्मिलित है, (अनुच्छेद-19(1)(D))।

निवास करने और बस जाने की स्वतंत्रता

किसी भी भारतीय नागरिक को भारतीय क्षेत्र के किसी भी भाग में निवास करने एवं बसने की आजादी है और कहीं भी बसने के लिए किसी की अनुमति की आवश्यकता नहीं होती। बसने या निवास करने की आजादी तथा बिना रोक-टोक यात्रा करने की आजादी का पूरक है। (अनुच्छेद-19(1)(E))।

संपत्ति का अधिकार

इसमें मूल रूप में संपत्ति के अर्जन एवं व्यय का अधिकार प्राप्त था। इस अनुच्छेद को 44वें संविधान संशोधन, 1978 के तहत् समाप्त कर दिया गया, जिसमें नागरिकों को संपत्ति का मूल अधिकार दिया गया था और अब यह अधिकार अनुच्छेद-300(क) में सम्मिलित किया गया है, जो एक वैधानिक अधिकार है, न कि मूल अधिकार। (अनुच्छेद-19(1)(F))।

वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने का अधिकार

यह अधिकार भारत के प्रत्येक नागरिक को अपनी इच्छानुसार व्यवसाय करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है। इस अनुच्छेद में वृत्ति (Profession), उपजीविका (Occupation), व्यापार (Trade) तथा कारोबार (Business) है। वृत्ति का अभिप्राय, आजीविका के संचालन के लिए वह कार्य करना है, जिसमें विशेषज्ञता की आवश्यकता हो। जबकि कारोबार लाभ के लिए किया जाता है तथा व्यापार वस्तुओं अथवा सेवाओं के लेन-देन का नाम है। उपजीविका एक व्यापक शब्द है, जिसमें व्यक्ति के द्वारा किए गए सभी कार्य शामिल हो जाते हैं। (अनुच्छेद-19(1)(G))।

भारत में वृत्ति एवं कारोबार करने की स्वतंत्रता है, परंतु नशीले पदार्थों का कारोबार करने की अनुमति नहीं है। बिहार सरकार के द्वारा हाल ही में ही शराब बेचने पर पूर्ण प्रतिबंध लगा दिया, जिसके विरोध में कोई नागरिक यह दावा नहीं कर सकता कि उसके कारोबार के अधिकारों का उल्लंघन हुआ है। हाल ही में कई राज्य सरकारों के द्वारा गायों के बध को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया। यद्यपि भारत मांस का बड़ा निर्यातक देश है। इसलिए गायों के बध को दण्डनीय अपराध घोषित करने से कुछ लोगों के कारोबार के अधिकारों का हनन हो सकता है। परंतु उच्चतम न्यायालय के द्वारा वर्ष-2005 में दिए गए एक ऐतिहासिक निर्णय में यह कहा गया कि गायों की रक्षा आर्थिक रूप में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसलिए गायों के बध को प्रतिबंधित करना अवैधानिक है।

तार्किक प्रतिबंध

संविधान में वर्णित स्वतंत्रता का अधिकार निरपेक्ष नहीं है, बल्कि इन प्रावधानों पर अनेक प्रतिबंध लगाए गए हैं। भारत की एकता व अखण्डता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध, लोक व्यवस्था एवं सदाचार, न्यायालय की अवमानना, मानहानि तथा अपराध को बढ़ावा देने वाले कार्यों को प्रतिबंधित किया गया है। स्वतंत्रता के अधिकार में विभिन्न प्रकार के प्रतिबंधों का उल्लेख अनुच्छेद-19(2) से 19(6) में उल्लिखित है। स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का अधिकार राज्य को है, परंतु यह प्रतिबंध उचित एवं तार्किक होने चाहिए, मनमानी अथवा अतार्किक नहीं। स्वतंत्रता पर लगाया गया प्रतिबंध इसके दुरुपयोग को रोकने के लिए किया जाता है, न कि स्वतंत्रता का विनाश करने के लिए।

स्वतंत्रता पर प्रतिबंध आरोपित करने का कोई सार्वभौमिक सिद्धांत नहीं है, बल्कि अलग-अलग मामलों में इस पर पृथक् रूप में विचार किया जाएगा। यह प्रतिबंध इसलिए आवश्यक है कि स्वतंत्रता के नाम पर सामाजिक व्यवस्था का विघटन न किया जा सके और दूसरे के समान स्वतंत्रता पर हमला न हो। उच्चतम न्यायालय ने वर्ष-2015 में श्रेया सिंघल वाद में कहा कि सरकार के द्वारा सूचना एवं तकनीकी अधिनियम के अंतर्गत् आरोपित प्रतिबंध अत्यधिक अनुपात से ज्यादा तथा अविवेकपूर्ण है, जिसे न्यायपालिका ने रद्द कर दिया, क्योंकि यह प्रतिबंध अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के विरुद्ध थे।

(B) अपराधों के आरोपी व्यक्तियों के अधिकार

भारतीय संविधान के मूल अधिकारों वाले भाग में किसी अपराध में बंदी व्यक्ति के लिए भी मूल अधिकारों का प्रावधान है। यह अधिकार भारतीय नागरिकों व विदेशियों दोनों को प्राप्त हैं। इस अनुच्छेद (अनुच्छेद-20) के तहत् सभी व्यक्ति को **तीन प्रकार के मूल अधिकार प्रदान किए गए हैं** -

1. किसी व्यक्ति को उस समय विद्यमान विधि के उल्लंघन के आधार पर ही दंडित किया जाएगा और दंड की मात्रा अपराध से ज्यादा नहीं होगी, जो उस दौरान विधि में उल्लिखित है।
2. किसी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए दो बार अभियोजित एवं दण्डित नहीं किया जाएगा।
3. किसी भी व्यक्ति को अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए विवश नहीं किया जाएगा।

(a) भूतलक्षी दांडिक विधियों से संरक्षण (EX Post Facto Law)

भूतलक्षी विधि से तात्पर्य ऐसी विधियों से है, जिन्हें निर्माण की तारीख से पहले लागू कर दिया जाता है। जैसे-संसद ने वर्ष-2013 में कोई विधि पास किया और उसे वर्ष-2005 में संपन्न कार्यों या विवादों हेतु भी लागू कर दिया। राज्य अपराध से संबंधित विधियों को भूतलक्षी प्रभाव वाला नहीं बना सकता। आपराधिक मामलों में निर्मित विधियां निर्माण की तिथि के बाद में लागू होती हैं, जबकि राज्य सिविल कानूनों को भूतलक्षी प्रभाव दे सकता है, अर्थात् संपत्ति विवादों जैसे सिविल कानूनों को पिछली तारीखों से लागू किया जा सकता है, (अनुच्छेद-20(1))।

(b) दोहरे दण्ड से संरक्षण (Double Jeopardy)

दोहरे दण्ड शब्द अमेरिकी संविधान में वर्णित है। इस अनुच्छेद के अनुसार किसी भी व्यक्ति को किसी अपराध के लिए एक बार ही दंडित किया जा सकता है, दो बार नहीं। दोहरे दण्ड का आशय केवल न्यायपालिका द्वारा दिए गए दण्ड से है, प्रशासनिक दण्ड से नहीं। अतः किसी व्यक्ति को न्यायिक व प्रशासनिक दोनों दण्ड दिया जाए, तो यह दोहरे दण्ड का उदाहरण नहीं होगा, अपितु एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक न्यायिक दण्ड नहीं दिया जाएगा, (अनुच्छेद-20(2))।

(c) अपने विरुद्ध गवाही देने से संरक्षण

इस अनुच्छेद के अनुसार किसी व्यक्ति को किसी आपराधिक मामले में स्वयं अपने विरुद्ध गवाही देने हेतु बाध्य नहीं किया जाएगा, अर्थात् किसी भी व्यक्ति को शारीरिक या मानसिक रूप से प्रताड़ित कर अपराध कबूलने पर मजबूर नहीं किया जाएगा, परंतु व्यक्ति स्वेच्छा से अपने विरुद्ध गवाही दे सकता है, लेकिन ऐसे अभियुक्त के विरुद्ध पाए गए शारीरिक निशान या चिकित्सीय परीक्षण (Medical Test) को उसके विरुद्ध साक्ष्य माना जाएगा। अतः एक लोकतांत्रिक देश में कोई भी व्यक्ति तब तक निरअपराधी है, जब तक उसे न्यायपालिका द्वारा दण्डित न किया जाए, (अनुच्छेद-20(3))।

हाल ही में न्यायालय ने इस अनुच्छेद की नई व्याख्या दी है, अब किसी भी व्यक्ति को अपराध परीक्षण हेतु नार्को, पॉलीग्राफ, ब्रेन मैपिंग, फिंगर प्रिंट जैसे मामलों को अपनाने हेतु बाध्य नहीं किया जाएगा, क्योंकि इन विधियों में व्यक्ति स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख सकता, जिसे जबर्दस्ती गवाही दिलवाना माना जाएगा, परंतु न्यायपालिका ने स्पष्ट कहा कि 'फिंगर प्रिंट और लिखावट को व्यक्ति के विरुद्ध साक्ष्य माना जाएगा।'

(C) जीवन का अधिकार

संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद-21 के तहत् प्राण और दैहिक स्वतंत्रता के संरक्षण का प्रावधान किया है, जिसमें यह स्पष्ट वर्णित है कि किसी भी व्यक्ति को उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जा सकता है। इसका सामान्यत: यह अर्थ है कि कार्यपालिका या सरकार किसी भी नागरिक के स्वतंत्रता में तभी हस्तक्षेप करेगी, जब उसने देश में स्थापित किसी विधि का उल्लंघन किया हो, (अनुच्छेद-21)।

जीवन की स्वतंत्रता (Right to Life)	दैहिक स्वतंत्रता (Personal Liberty)
1. व्यक्ति के शरीर एवं उसके अंगों की सुरक्षा।	1. मनमानी हिरासत में रखने के विरूद्ध स्वतंत्रता।
2. शरीर पर हमले अथवा बलात्कार के विरूद्ध स्वतंत्रता।	2. निजता एवं निजी जीवन में कपड़े, निवास के चयन की स्वतंत्रता।
3. प्रताड़ना से मुक्ति।	3. आवागमन की स्वतंत्रता।
4. आजीविका, शिक्षा एवं शुद्ध पर्यावरण।	4. निगरानी एवं नियंत्रण के विरूद्ध स्वतंत्रता।

गोपालन वाद (1950)

न्यायपालिका के अनुसार, जीवन के अधिकार का अभिप्राय, व्यक्ति को प्रताड़ित करना नहीं, बल्कि व्यक्ति को कैद में रखने के विरूद्ध स्वतंत्रता होनी चाहिए। इसलिए इसे जीवन के अधिकार का संकीर्ण अर्थ माना जाता है। इसके अनुसार विधायिका विधि बनाकर जीवन के अधिकार अथवा दैहिक स्वतंत्रता समाप्त कर सकती है। न्यायपालिका का कार्य केवल यह देखना है कि किसी व्यक्ति को विधि के उल्लंघन के बिना तो दण्डित नहीं किया गया है। विधि उचित है अथवा अनुचित यह न्यायपालिका के विचार का विषय नहीं है। न्यायपालिका ने अनुच्छेद-21 में वर्णित अधिकारों की व्याख्या किया है। गोपालन वाद (1950) में न्यायपालिका ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि यदि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन किया जा रहा है, तो न्यायालय को यह शक्ति प्राप्त नहीं है कि वह संसद की विधि को अविधिमान्य घोषित करे, अर्थात् जीवन का अधिकार कार्यपालिका के विरुद्ध है, विधायिका के विरुद्ध नहीं। जब विधायिका कानून के द्वारा जीवन के अधिकार को समाप्त कर दे, तो न्यायालय संरक्षण प्रदान नहीं कर सकता, (अनुच्छेद-20(1))। गोपालन वाद में न्यायपालिका ने यह स्पष्ट रूप में माना कि उसका कार्य यह देखना है कि किसी व्यक्ति से कार्यपालिका विधि के अभाव में जीवन का अधिकार न छीनें।

न्यायपालिका ने स्वतंत्रता के अधिकार अनुच्छेद-19 एवं अनुच्छेद-21 को अलग-अलग माना। न्यायपालिका के अनुसार, जीवन के अधिकार में जीवन एवं दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार है। जबकि अनुच्छेद-19 में विशिष्ट प्रकार की स्वतंत्राओं का उल्लेख है। इसलिए दोनों एक-दूसरे से अलग हैं। जीवन के अधिकार की इसी प्रकार की व्याख्या न्यायपालिका के द्वारा आपातकाल के दौरान भी की गई और उच्चतम न्यायालय ने कहा कि आपातकाल के दौरान मूल अधिकार निलंबित कर दिए गए थे। इसलिए न्यायपालिका इन अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ नहीं थी। हैवियस कॉर्पस वाद, 1976 में न्यायपालिका ने आपातकाल में व्यक्ति के जीवन के अधिकार की रक्षा करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। क्योंकि न्यायपालिका के अनुसार, विधायिका को विधि-निर्माण करने का अधिकार प्राप्त है। अत: न्यायपालिका ने विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया का पालन किया।

मेनका गांधी वाद (1978)

संविधान में यह उल्लिखित है कि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया से ही व्यक्ति के जीवन एवं दैहिक स्वतंत्रता का उल्लंघन किया जा सकता है। परंतु मेनका गांधी वाद में विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को परिवर्तित करके विधि की उचित प्रक्रिया का प्रयोग किया। न्यायपालिका ने इस वाद में विधि की उचित प्रक्रिया की संकल्पना का प्रयोग किया। इस वाद में न्यायपालिका ने विधि की उचित प्रक्रिया का प्रतिपादन किया, जो अमेरिकी विधि में वर्णित है। **दूसरे शब्दों में,** न्यायपालिका ने यहां विधि के औचित्य का परीक्षण किया। सात न्यायाधीशों की बेंच ने पहले के गोपालन वाद के निर्णय को परिवर्तित करते हुए कहा कि विधायिका को विधि के निर्माण का अधिकार है, परंतु विधायिका द्वारा निर्मित विधि तार्किक, उचित एवं औचित्यपूर्ण होनी चाहिए, न कि मनमानी और भेदभावपूर्ण। अत: जीवन का अधिकार कार्यपालिका के अलावा विधायिका के

विरुद्ध भी पाया जाता है। यदि विधायिका किसी अतार्किक विधि के द्वारा जीवन के अधिकार को छीनने का प्रयत्न करे, तो न्यायपालिका इसे अवैध कर देगी। इसलिए विधायिका को विधि के निर्माण का अधिकार है, परंतु विधि उचित होनी चाहिए तथा न्यायपालिका ने इस वाद में प्राकृतिक न्याय का सिद्धांत भी प्रतिपादित किया।

इस वाद में जीवन के अधिकार की उदारवादी व्याख्या की गई। जीवन के अधिकार का अभिप्राय केवल प्रताड़ना का अभाव ही नहीं, बल्कि गरिमामय जीवन यापन है। इसलिए इस जीवन के अधिकार में स्वतंत्रता, भोजन और शिक्षा का अधिकार भी शामिल हैं और जीवन के अधिकार में स्वतंत्रता के अधिकार को भी शामिल किया गया। न्यायपालिका के अनुसार, जीवन के ऐसे अधिकार का महत्व नहीं होगा, जिसमें व्यक्ति को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और अबाध रूप में संचरण से वंचित किया जाए। इसलिए जीवन के अधिकार का आशय, गरिमामय जीवन से है, पशुवत् जीवन से नहीं। गोपालन वाद में दिए गए अपने निर्णय को पलटते हुए न्यायपालिका ने कहा कि 'जीवन का अधिकार (अनुच्छेद-21) एवं स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद-19) आपस में अंतर्संबंधित हैं। इसलिए जीवन के अधिकार में विशिष्ट स्वतंत्रताओं का अधिकार स्वाभाविक रूप में सम्मिलित हो जाता है।'

विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया (Procedure Established by Law)	**विधि की उचित प्रक्रिया (Due Process of Law)**
1. यह संविधान में उल्लिखित है।	1. न्यायपालिका द्वारा प्रतिपादित है।
2. न्यायपालिका यह सुनिश्चित करती है, कि प्रक्रिया संसदीय विधि द्वारा निर्धारित है।	2. विधि द्वारा निर्धारित प्रक्रिया उचित एवं तार्किक होनी चाहिए।
3. न्यायपालिका के अनुसार, निर्धारित प्रक्रिया का पालन करते हुए जीवन का अधिकार छीना जा सकता है।	3. प्रक्रिया प्राकृतिक न्याय के सिद्धांतों के अनुरूप होनी चाहिए।
4. विधि में उल्लिखित प्रक्रिया का उल्लंघन करते हुए दंड नहीं दिया जा सकता। अत: संसद की शक्ति प्राथमिक हो जाती है।	4. प्रक्रिया होना मात्र पर्याप्त नहीं है, अपितु यह उचित एवं सम्यक होने चाहिए। इसमें न्यायपालिका की शक्तियों में वृद्धि हो जाती है।

जीवन के अधिकारों की गतिशीलता

वर्ष-1980 के दशक में जनहित याचिका (Public Interst Litigation) के प्रचलन के पश्चात् न्यायपालिका ने जीवन के अधिकारों की व्याख्या अत्यधिक विस्तृत रूप में की। इसलिए यह मान्यता परिवर्तित हुई कि भारत में मौलिक अधिकार केवल भाग-3 में वर्णित अनुच्छेदों में ही है। अत: निदेशक तत्व में वर्णित प्रावधान भी अधिकार ही है। न्यायपालिका ने समूचे संविधान के प्रावधान में एक आंगिक (Organic) एकता देखी। जिसके अनुसार, जीवन के अधिकार की व्याख्या करते समय निदेशक तत्वों में वर्णित प्रावधानों को भी ध्यान में रखने की आवश्यकता है। न्यायालय के अनुसार, किसी व्यक्ति को निर्धारित मूल्य से कम मजदूरी देना भी जीवन के अधिकार का उल्लंघन है। जबकि यह प्रावधान शोषण के विरुद्ध अधिकार में निहित है। न्यायपालिका के अनुसार, **निम्नलिखित बातें जीवन के अधिकार में अंतर्निहित हैं** -

1. शिक्षा का अधिकार

उच्चतम न्यायालय ने मोहनी जैन वाद एवं उन्नीकृष्णन वाद में पहले ही निर्देश दिया था कि प्राथमिक शिक्षा सभी बच्चों को अनिवार्य एवं नि:शुल्क प्राप्त होनी चाहिए। संविधान के निदेशक तत्वों के अध्याय में भी 14 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिए अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा का प्रावधान है। इन्हीं प्रावधानों को व्यवहार में लागू कराने के लिए संविधान में 86वां संविधान संशोधन, 2002 किया गया, जिसके द्वारा अनुच्छेद-21(A) मूल अधिकारों के अध्याय में जोड़ा गया, जिसमें यह प्रावधान किया गया कि राज्य के द्वारा 6-14 वर्ष के बच्चों को अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा का प्रावधान किया जाएगा, जिसे

राज्य विधि के द्वारा लागू करेंगे। इससे जीवन के अधिकार का अत्यधिक विस्तार हो गया है। वर्ष-2009 में संसद के द्वारा निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने के लिए अधिनियम का निर्माण किया गया।

2. आजीविका का अधिकार

वर्ष-1985 में बॉम्बे मुनिसिपल कॉरपोरेशन के द्वारा झुग्गी झोपड़ी में रहने वाले एवं सड़क किनारे रेहड़ी लगाने वाले व्यक्तियों को हटाने का प्रयास किया गया। उच्चतम न्यायालय में ओलगा टेलिस वाद में कहा गया कि आजीविका का अधिकार जीवन का अधिकार में शामिल है, इसलिए रेहड़ी लगाने वालों को मनमानी नहीं हटाया जा सकता है।

3. यौन उत्पीड़न के विरूद्ध अधिकार

उच्चतम न्यायालय के द्वारा वर्ष-1997 के प्रसिद्ध विशाखा बनाम् राजस्थान राज्यवाद में कहा कि यौन उत्पीड़न जीवन के अधिकार का उल्लंघन है। अन्य निर्णयों में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि यदि किसी महिला के विरूद्ध बलात्कार होता है, तो उसे मुआवजा प्राप्त करने का अधिकार है।

4. प्रदूषण मुक्त पर्यावरण का अधिकार

उच्चतम न्यायालय ने एम. सी. मेहता वाद में कहा कि प्रदूषण जीवन के अधिकार के लिए सबसे बड़ा खतरा है और प्रदूषण नियंत्रित करने के लिए राज्य को निर्देश भी प्रदान किया।

5. स्वेच्छाचारी हिरासत लेने एवं बंदी बनाए जाने के विरूद्ध अधिकार

हुसैन आरा खातून वाद में उच्चतम न्यायालय ने यह कहा कि दैहिक स्वतंत्रता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग मनमानी तरीके से हिरासत में रखने के विरूद्ध अधिकार है।

6. विदेश जाने का अधिकार

मेनका गांधी वाद में एवं सतवंत सिंह वाद में उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट कहा कि दैहिक स्वतंत्रता में विदेश यात्रा का अधिकार भी शामिल है।

7. निजता का अधिकार

वर्ष-2018 में उच्चतम न्यायालय ने नौ न्यायाधीशों की बेंच के द्वारा आम सहमति से निर्णय लेते हुए कहा कि निजता का अधिकार, जीवन के अधिकार में शामिल है। यह निर्णय पुट्टास्वामी वाद में कहा कि निजता के अधिकार में व्यक्ति के यौन इच्छाओं का चयन, वैवाहिक संबंध तथा निजी जीवन से संबंधित चयन शामिल हैं। यह अधिकार व्यक्ति को सार्वजनिक रूप में भी उपलब्ध होगा, क्योंकि किसी भी व्यक्ति की सार्वजनिक रूप में कपड़े उतारकर उसकी तलाशी नहीं ली जा सकती।

निजता के अधिकार का अभिप्राय है कि राज्य के द्वारा व्यक्ति के निजी मामलों में हस्तक्षेप न किया जाए और व्यक्ति के जीवन से संबंधित निजी सूचनाओं और आंकड़ों का भी संरक्षण करने की आवश्यकता है। न्यायालय ने निजता को पूर्ण रूप में परिभाषित नहीं किया, क्योंकि अलग-अलग वादों एवं परिस्थितियों के अनुसार इसे परिभाषित किया जाएगा।

न्यायालय ने यह भी माना कि जीवन का अधिकार निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि जीवन के अधिकार में मृत्यु का अधिकार शामिल नहीं है और न ही गर्भवती महिला को मनमानी गर्भपात का अधिकार है। इसलिए निजता का अधिकार भी निरपेक्ष नहीं हो सकता। इसलिए राष्ट्रीय सुरक्षा, आतंकवाद एवं सामाजिक न्याय जैसे मामलों के लिए निजता के अधिकार को प्रतिबंधित किया जा सकता है।

8. इच्छा मृत्यु का अधिकार

उच्चतम न्यायालय वर्ष-1996 में ज्ञान कौर बनाम् पंजाब राज्य वाद में यह स्पष्ट रूप में कहा कि जीवन के अधिकार में मृत्यु का अधिकार शामिल नहीं है। इसीलिए उच्चतम न्यायालय ने इच्छा मृत्यु अथवा यूथेनेशिया को अवैधानिक माना है, परंतु उच्चतम न्यायालय ने यूथेनेशिया के नकारात्मक रूप को स्वीकार किया है, जिसके अंतर्गत् व्यक्ति को प्रदान किए गए तकनीकी यंत्र जैसे वेंटिलेटर हटाए जा सकते हैं, परंतु व्यक्ति को सीधे इंजेक्शन देकर नहीं मारा जा सकता। उच्चतम न्यायालय ने वर्ष-2018 में एक महत्वपूर्ण निर्णय देते हुए कहा कि व्यक्ति को गरिमामय रूप में मृत्यु का अधिकार है। अतः व्यक्ति यदि गंभीर बीमारी से पीड़ित है, तो वह अपनी मृत्यु की वसीयत (Will) लिख सकता है। अतः पहली बार उच्चतम न्यायालय ने व्यक्ति को अपनी मृत्यु निर्धारित करने का अधिकार दिया है। लेकिन इसके दुरूपयोग को रोकने के लिए उच्चतम न्यायालय ने इसके लिए चिकित्सक के परामर्श एवं लिखित आदेश को अनिवार्य माना है।

(D) गिरफ्तारी और निरोध से संरक्षण का अधिकार

अनुच्छेद-22(1) के अनुसार, किसी व्यक्ति को कारण बताए बिना हिरासत में नहीं लिया जाएगा, न ही बंदीगृह में रखा जाएगा तथा उसे अपने पसंद के वकील से परामर्श करने का अधिकार होगा तथा हिरासत में लिए गए एवं बंदी बनाए गए व्यक्ति को 24 घंटे के अंदर नजदीकी मजिस्ट्रेट के न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा, जिसमें यात्रा का समय शामिल नहीं होगा। मजिस्ट्रेट की अनुमति के बाद ही उसे 24 घण्टे से ज्यादा समय के लिए बंदी बनाया जाएगा, (अनुच्छेद-22(2))। यह सुविधा विदेशी शत्रु तथा निवारक निरोध के अंतर्गत् बंदी बनाए गए लोगों के लिए नहीं है, (अनुच्छेद-22(3))।

निवारक निरोध (Preventive Detention)

इसका अभिप्राय किसी व्यक्ति को किसी अभियोग के लिए दण्ड देना नहीं, बल्कि उसे अपराध करने से रोकना है। संक्षेप में यह एक सचेत करने का उपकरण है। यह शासन के हाथ में एक ऐसा यंत्र है, जिससे अपराध की आशंका मात्र पर ही व्यक्ति को अदालती जांच के बिना बंदी अथवा नजरबंद रखा जा सकता है। संविधान के अनुसार, इस प्रकार की निवारक निरोध की व्यवस्था सामान्य एवं संकटकाल दोनों में ही की जा सकती है। अतः संविधान में दो प्रकार के निरोध हैं - **प्रथम**, अपराध के पहले जो **निवारक निरोध** कहलाता है एवं **द्वितीय**, अपराध के बाद जिसे **दंडात्मक निरोध** कहा जाता है।

दंडात्मक नजरबंदी (Punitive Detention)	निवारक नजरबंदी (Preventive Detention)
1. विधि के उल्लंघन के बाद किसी व्यक्ति को हिरासत में लेना।	1. विधि के उल्लंघन के पूर्व व्यक्ति को हिरासत में लेना।
2. न्यायालय के अनुमति के बाद व्यक्ति को बंदी बनाया जाता है।	2. पुलिस की अनुमति से ही व्यक्ति को बंदी बना लिया जाता है।
3. यह विधि के शासन के अनुकूल है।	3. इससे पुलिस राज्य की स्थापना होती है।
4. इसके अंतर्गत् व्यक्ति को पुलिस केवल 24 घंटे तक बंदी बना सकती है।	4. इसके अंतर्गत् यह प्रतिबंध लागू नहीं होता।

नजरबंद व्यक्तियों को प्राप्त अधिकार

निवारक निरोध में बंदी व्यक्तियों के लिए मूल अधिकारों का उल्लेख अनुच्छेद-22(4) से 22(7) तक किया है, जिसके अंतर्गत् वे भी अपने निवारक निरोध का कारण जान सकेंगे और वे अपनी सहायता के लिए वकील भी कर सकते हैं। किसी भी व्यक्ति को यदि तीन माह से अधिक निवारक निरोध के तहत् बंदी रखना है, तो उसके लिए उसे एक बोर्ड के समक्ष प्रस्तुत करना होगा, जिसका अध्यक्ष उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की योग्यता रखने वाला व्यक्ति होगा। इसकी अनुमति के बाद ही व्यक्ति को तीन महीने से ज्यादा नजरबंद रखा जा सकता है। निवारक नजरबंदी में रखे गए व्यक्तियों को नजरबंदी का कारण नहीं बताया जाएगा, यदि यह सार्वजनिक हितों के विरुद्ध हो। संसद को नजरबंदी की ऐसी विधि के निर्माण का अधिकार है, जिसमें व्यक्तियों को तीन महीने से ज्यादा नजरबंद रखा जा सकता है।

नजरबंदी के आधार

निवारक नजरबंदी बनाने का आधार है-राज्य की सुरक्षा, लोक व्यवस्था, समुदाय की आवश्यक सेवाओं की पूर्ति को बनाए रखना, रक्षा, विदेश संबंधी अथवा भारत की सुरक्षा से संबंधित आधारों पर किसी भी व्यक्ति को निवारक नजरबंदी में लिया जा सकता है। निवारक निरोध के संबंध में कानून बनाने की शक्ति संसद और राज्य विधान सभाओं दोनों को है। संविधान सभा में इस बिंदु पर अत्यधिक विवाद हुआ कि क्या निवारक निरोध जैसे प्रावधानों का उल्लेख मूल अधिकारों के भाग में तार्किक है? यदि तत्कालीन परिस्थितियों की ओर ध्यान दिया जाए, तो विध्वंशकारी तत्वों से नवजात गणतंत्र को बचाने के लिए राज्य को यह शक्ति प्रदान करना आवश्यक था। इसके लिए किसी अन्य देशों से तुलना करना तार्किक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक देश की परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं। अतः निवारक निरोध संविधान में एक अनिवार्य दुर्गुण के रूप में है, परंतु समकालीन समय में जहां राज्य की आंतरिक सुरक्षा को अलगाववादी, आतंकवादी इत्यादि तत्वों से खतरा है, वहां इस विधि की प्रासंगिकता आज भी है।

संघ सरकार निर्मित विधि

निवारक निरोध से संबंधित पहला कानून बंगाल में **बंगाल अधिनियम, 1818** के नाम से बनाया गया, उसके बाद वर्ष-1939 में भारतीय रक्षा अधिनियम बनाया गया, जो वर्ष-1950 तक लागू रहा। **अन्य कानून इस प्रकार हैं** -

1. निवारक निरोध अधिनियम, 1950

यह अधिनियम वर्ष-1951 से लेकर वर्ष-1969 तक प्रभावी रहा तथा इसमें 10 माह से अधिक समय तक की गिरफ्तारी हेतु सलाहकारी बोर्ड की व्यवस्था थी। यह स्वतंत्र भारत का पहला नजरबंदी कानून था।

2. आंतरिक सुरक्षा कानून, 1971

यह कानून मीसा (MISA) के नाम से भी जाना जाता है। यह कानून निवारक निरोध अधिनियिम का संशोधित रूप था, जो वर्ष-1971 में लागू हुआ तथा वर्ष-1978 तक चला। वर्ष-1976 के आपातकाल के समय इस कानून का दुरुपयोग किया गया, फलत: यह कानून वर्ष-1978 में जनता पार्टी द्वारा रद्द कर दिया गया।

3. विदेशी मुद्रा संरक्षण एवं तस्करी निवारक अधिनियम, 1974 (The Conservation of Foreign Exchange and Prevention of Smuggling Activities Act, (COFEPOSA)

यह कानून विदेशी मुद्रा से जुड़े अपराधों हेतु बनाया गया था, जो आंतरिक सुरक्षा कानून, 1971 के पूरक के रूप में कार्य कर रहा है।

4. राष्ट्रीय सुरक्षा कानून, 1980

यह संक्षिप्त रूप से **रासुका** के नाम से जाना जाता था। श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा निर्मित यह कानून **आंतरिक सुरक्षा कानून, 1971** का नया रूप था, जिसे जनता पार्टी की सरकार ने निरस्त कर दिया था।

5. आतंकवाद एवं विध्वंसक गतिविधि निवारक अधिनियम, 1985 (Terrorist and Disruptive Activities (Prevention) Act, (TADA)

यह कानून वर्ष-1985 में आतंकी गतिविधियों से निपटने हेतु बनाया गया, जिससे पंजाब व कश्मीर में आतंकवाद से लड़ने में मदद किया, परंतु दुरुपयोग के कारण वर्ष-1995 में इसे निरस्त कर दिया गया।

6. आतंकवाद निवारक अधिनियम, 2002 (Prevention of Terrorism Act, 2002: POTA)

यह कानून **पोटा** के नाम से जाना जाता है। इसे एन. डी. ए. सरकार ने वर्ष-2001 में पारित करवाया। इस अधिनियम के तहत् गिरफ्तार व्यक्ति को बिना आरोप-पत्र के 180 दिनों तक कारावास में रखा जा सकता था। इस कानून को वर्ष-2002 में संशोधित किया गया और वर्ष-2004 में इस कानून को यू. पी. ए. सरकार ने निरस्त कर दिया।

7. गैर-कानूनी गतिविधि (निवारण) संशोधन अधिनियम, 2008

यह कानून वर्ष-1967 में पास किया गया था तथा वर्ष-2008 में आवश्यकतानुसार संशोधित किया गया। इस कानून के अंतर्गत् **पोटा** की अधिकांश उपयोगी धाराएं सम्मिलित हैं। यह अब भी उपयोग में है।

3. शोषण के विरुद्ध अधिकार (Right Against Exploitation)

(A) मानव के दुर्व्यापार और बलात्श्रम का प्रतिषेध

जीवन के अधिकार का आशय, गरिमामय जीवन से है। भारतीय संविधान में मानव के दुर्व्यापार, बेगार और बलात्श्रम प्रतिबंधित है और इनका उल्लंघन दण्डनीय अपराध है, (अनुच्छेद-23(1))। मानव दुर्व्यापार का अभिप्राय महिलाओं, बच्चों और अपंग व्यक्तियों के अनैतिक दुर्व्यापार पर प्रतिबंध लगाना है। **मानव व्यापार में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं** -

- **i.** वस्तु के समान महिलाओं, बच्चों और अन्य पुरुषों की खरीद-फरोख्त।
- **ii.** महिलाओं तथा बच्चों का व्यापार या वेश्यावृत्ति।
- **iii.** देवदासी तथा दास प्रथा को प्रतिबंधित करना।

बेगार से तात्पर्य, बिना पारिश्रमिक या कम पारिश्रमिक के आधार पर कार्य करवाना है। सामंतवादी व्यवस्था में बेगार पद्धति प्रचलित थी, जहां व्यक्ति को कार्य करने के पश्चात् किसी भी प्रकार से पैसा नहीं दिया जाता था। बेगार में बंधुआ मजदूरी भी सम्मिलित है। यह अनुच्छेद बंधुआ मजदूरी पर भी रोक लगाता है, (नि:शुल्क कार्य)। लेकिन यह ध्यान देने योग्य है कि राज्य लोक प्रयोजन या सार्वजनिक कल्याण के लिए अनिवार्य भर्ती या सेवा लागू करे, तब इसे शोषण नहीं माना जाएगा। यद्यपि इन सेवाओं में केवल धर्म, प्रजाति, जाति अथवा वर्ग या इनमें से किसी एक आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा, (अनुच्छेद-23(2))। यूरोपीय देशों में नागरिकों से अनिवार्य रूप में सेना में सेवा देने का प्रावधान किया गया है, जिसे

भारत में परिवर्तित रूप में अपनाया गया है। इस अनुच्छेद को लागू करने हेतु संसद द्वारा विधियां पारित की गई हैं, **जो इस प्रकार हैं** -

- न्यूनतम मजदूरी एक्ट, 1948
- अनैतिक व्यापार निवारण अधिनियम, 1956
- समझौता मजदूर एक्ट, 1970
- बंधुआ मजदूर श्रम व्यवस्था समाप्त एक्ट, 1976
- समान पुरस्कार एक्ट, 1976

शोषण के व्यापक अभिप्राय

नई दिल्ली में आयोजित एशियाई खेल के दौरान वर्ष-1983 में बड़ी संख्या में मजदूरों को काम पर लगाया गया था, परंतु उन्हें कम मजदूरी दी जा रही थी। अतः एशियाई वर्कर्स केस में उच्चतम न्यायालय ने कहा कि निर्धारित दर से कम मजदूरी देना भी शोषण का पर्याय है।

(B) शोषण के विरूद्ध बच्चों के अधिकार

अनुच्छेद-24 के अंतर्गत् विशिष्ट रूप में 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को किसी कारखाने या खान या किसी अन्य संकटमय या खतरनाक कार्यों में नहीं लगाया जाएगा। अतः बच्चों को किसी भी रूप में खतरनाक कार्यों में नहीं लगाया जा सकता। यह अधिकार राज्य एवं व्यक्ति दोनों के विरुद्ध प्राप्त है। वर्ष-2015 में संघ सरकार के कैबिनेट प्रस्ताव के अनुसार, बच्चे घरेलू कार्यों में परिवार की सहायता कर सकते हैं। इसे बालश्रम की श्रेणी में नहीं रखा जाएगा। यह उल्लेखनीय है कि बच्चों के प्राथमिक शिक्षा का अनिवार्य एवं निःशुल्क अधिकार, (अनुच्छेद-21(A)), शोषण के विरुद्ध अधिकार का पूरक है। इस प्रावधान को पूर्ण करने हेतु संसद द्वारा विधियां पारित की गई हैं, **जो इस प्रकार हैं** -

- बच्चों का रोजगार अधिनियम, 1938
- कारखाना अधिनियम, 1948
- प्लांटेशन लेबर अधिनियम, 1951
- मोटर ट्रॉन्सपोर्ट मजदूर अधिनियम, 1951
- खान अधिनियम, 1952
- व्यापारी जहाज अधिनियम, 1956
- बीड़ी-सिगार कार्य अधिनियम, 1966
- बालश्रम अधिनियम, 1986

शोषण के विरुद्ध अधिकार से संबंधित वाद

एम. सी. मेहतावाद में उच्चतम न्यायालय ने बालश्रम के संदर्भ में महत्वपूर्ण निर्देश जारी किया और न्यायपालिका ने यह भी निर्देश दिया कि **बालश्रम पुनर्वास कल्याण कोष** का निर्माण हो, जिसमें वह व्यक्ति 20 हजार रुपए जमा करेगा, जिसने बच्चों को काम पर लगाया था। वह उस बच्चे के घर के वयस्क सदस्य को रोजगार प्रदान करेगा। इसके अतिरिक्त बंधुआ मुक्ति मोर्चावाद, 1997 में उच्चतम न्यायालय ने मजदूरों को उचित दर पर मजदूरी प्रदान करने के निर्देश जारी किया।

राष्ट्रीय बाल संरक्षण आयोग

राष्ट्रीय बाल संरक्षण आयोग का गठन 23 फरवरी, 2007 को किया गया। यह आयोग बच्चों को अत्याचार तथा उत्पीड़न से बचाने की दिशा में कार्य करेगा। इस आयोग में कुल 6 सदस्य होंगे, जिनका कार्यकाल 3 वर्षों का होगा। इस आयोग की पहली अध्यक्ष शांता सिन्हा को बनाया गया। आयोग की मुख्य भूमिका बाल अत्याचार और बाल अपराध को रोकने की है। राष्ट्रीय बाल संरक्षण आयोग को सिविल न्यायालय की तरह अधिकार होंगे और इसका स्वरूप राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की तरह होगा। **आयोग के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं** -

1. यह बच्चों को आतंकवाद, सांप्रदायिक हिंसा, प्राकृतिक आपदा एवं घरेलू हिंसा से बचाने के लिए काम करेगा।
2. बच्चों का शोषण और उन पर अत्याचार न होने पाए इसका ध्यान रखेगा।
3. राष्ट्रीय बाल आयोग, बाल अधिकारों से जुड़े किसी भी मामले की जांच और राज्य सरकारों और पुलिस को निर्देश जारी कर सकता है। आयोग के पास बच्चों को परेशान करने वाले किसी भी व्यक्ति के खिलाफ सम्मन या नोटिस जारी करने का अधिकार है।

शोषण के अधिकार का विस्तार

उच्चतम न्यायालय के द्वारा विशाखा बनाम् राजस्थान राज्य के महत्वपूर्ण वाद में यह निर्णय दिया कि यौन शोषण भी शोषण का एक रूप है, जिसे प्रतिबंधित करने के लिए निर्देश दिया गया।

4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (Right to Freedom of Religion)

संविधान सभा में राजकुमारी अमृत कौर के द्वारा धार्मिक अधिकारों को मूल अधिकार के रूप में शामिल करने का कड़ा विरोध किया गया था। उनके अनुसार धार्मिक अधिकार के आधार पर सामाजिक सुधार को प्रतिबंधित किया जा सकता है, परंतु एक पंथनिरपेक्ष लोकतांत्रिक शासन में धार्मिक अधिकार सभी व्यक्तियों को प्राप्त होने चाहिए। धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार के अंतर्गत् भारतीय संविधान में धर्म को अंतःकरण के रूप में मानने, आचरण करने एवं उसके प्रचार करने की स्वतंत्रता है। अंतःकरण की स्वतंत्रता कहती है कि कोई भी व्यक्ति ईश्वर या उसके किसी भी रूप को मान सकता है। वह अपने इस विश्वास और आस्था को सार्वजनिक कर सकता है। आचरण करने के अधिकार के तहत् पूजा, धार्मिक अनुष्ठान व विचारों का प्रदर्शन इत्यादि है। साथ ही धार्मिक स्वतंत्रता में धर्म प्रचार की स्वतंत्रता भी सम्मिलित है। वह अपने धार्मिक मान्यताओं को प्रकट कर बढ़ावा दे सकता है, (अनुच्छेद-25(1))।

(A) धार्मिक स्वतंत्रता पर प्रतिबंध

1. लोक व्यवस्था स्वास्थ्य एवं सदाचार के आधार पर

भारतीय संविधान में धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार निरपेक्ष नहीं है। इसे सदाचार, स्वास्थ्य और लोकव्यवस्था बनाए रखने के लिए प्रतिबंधित किया जा सकता है। अतः धार्मिक अधिकारों के नाम पर सांप्रदायिक हिंसा व अश्लीलता की अनुमति नहीं दी जा सकती है, (अनुच्छेद-25(2))।

2. आर्थिक वित्तीय एवं लौकिक आधार पर

राज्य के द्वारा धर्म से जुड़ी हुई आर्थिक, वित्तीय व राजनीतिक एवं अन्य लौकिक गतिविधियों पर नियंत्रण किया जा सकता है। अतः संविधान में यह अंतर्निहित है कि धर्म से संबंधित लौकिक अथवा भौतिक विषय धर्म के मूल भाग नहीं हैं, बल्कि द्वितीयक या गौंण विषय हैं, जिन्हें राज्य के द्वारा नियंत्रित किया जाएगा।

3. सामाजिक सुधार के आधार पर

भारत में सामाजिक सुधार, कल्याण और हिंदू धार्मिक संस्थाएं, जो सार्वजनिक प्रकृति की हों, उन्हें हिंदू समाज के सभी वर्गों के लिए खोलने का प्रावधान किया जाएगा, जिसे धार्मिक स्वतंत्रता के नाम पर रोका नहीं जा सकता, (अनुच्छेद-25(2))। अतः राज्य के द्वारा धार्मिक गतिविधियों में हस्तक्षेप किया जा सकता है, परंतु धार्मिक समूहों अथवा संस्थाओं के द्वारा राज्य के कार्यों में दखल संभव नहीं है। इसलिए संविधान में राज्य एवं धर्म के बीच का विभाजन एकतरफा है, क्योंकि राज्य को धर्म को नियंत्रित करने की शक्ति दी गई है।

पंथनिरपेक्ष राज्य

भारत, मूलतः एक बहुधर्मी व बहुभाषाई राष्ट्र है, तथा राज्य के लिए सभी व्यक्तियों का महत्व समान है, चाहे वह कोई धर्मावलंबी ही क्यों न हो? क्योंकि धर्म, व्यक्ति की निजी आस्था का विषय है। इसलिए राज्य का कोई धर्म नहीं होगा तथा राज्य सभी धर्मों के लिए तटस्थ होगा। इसे सामान्यतः **पंथनिरपेक्षता** (Secularism) की संज्ञा दी जाती है, जिसमें राज्य एवं धर्म का अलगाव होता है। 42वें संविधान संशोधन, 1976 के द्वारा पंथनिरपेक्षता को प्रस्तावना में जोड़ा गया, जिससे इस बात को बल मिलता है कि **भारत, एक पंथनिरपेक्ष राष्ट्र है।**

इसके अंतर्गत् राज्य एवं धर्म के बीच अलगाव और राज्य, धर्म से तटस्थ होता है। पंथनिरपेक्षता का यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य, धर्म का विरोधी होगा, बल्कि धर्म, व्यक्ति की आस्था का विषय है। अनुच्छेद-25(1) के अंतर्गत् धर्म को अंतःकरण से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि धर्म, व्यक्ति की आस्था का विषय है। मूल अधिकार के अन्य भागों में भी पंथनिरपेक्ष राज्य का विचार विद्यमान है। सार्वजनिक स्थानों पर धर्म के आधार पर भेदभाव संभव नहीं है। पंथनिरपेक्ष राज्य का अभिप्राय है कि राज्य के द्वारा निर्मित सामाजिक एवं आर्थिक नीतियां धर्म से प्रभावित नहीं होंगी। पंथनिरपेक्ष राज्य धर्म का विरोधी नहीं है, बल्कि इसके अनुसार, राज्य का कोई धर्म नहीं है। पंथनिरपेक्ष राज्य, धार्मिक राज्य और धर्म विरोधी राज्य के बीच का मार्ग है।

न्यायपालिका की व्याख्या

उच्चतम न्यायालय के द्वारा पंथनिरपेक्ष राज्य को संविधान के आधारभूत ढांचे में शामिल किया गया है। उच्चतम न्यायालय ने पंथनिरपेक्ष राज्य को स्पष्ट करते हुए कहा कि राज्य एवं धर्म के बीच अलगाव ही नहीं है, बल्कि राज्य के लिए सभी धर्मों का समान महत्व है। उच्चतम न्यायालय का दृष्टिकोण गांधीजी के **सर्व-धर्म-समभाव** के विचार से प्रभावित है। पंथनिरपेक्षता का नकारात्मक पहलू यह है कि राज्य का कोई धर्म नहीं होगा। यह परिभाषा पश्चिमी देशों में दी जाती है, जबकि इसका सकारात्मक पक्ष राज्य का सभी धर्मों के प्रति समान व्यवहार करना है।

धर्म परिवर्तन एवं धार्मिक स्वतंत्रता

मूल प्रश्न उठता है कि धार्मिक स्वतंत्रता के अंतर्गत् धर्म परिवर्तन भी सम्मिलित है। यह विवाद तब उत्पन्न हुआ, जब उड़ीसा (1967) और मध्य प्रदेश (1968) की सरकारों ने एक विधि निर्मित करते हुए यह व्यवस्था की कि लोभ, कपट और बल के आधार पर धर्म परिवर्तन दण्डनीय अपराध होगा, लेकिन कुछ लोगों ने इसे धर्म विशेष के प्रति विरोधी बताते हुए न्यायपालिका में चुनौती दी। ऐसे लोगों का तर्क था कि धार्मिक प्रचार में धार्मिक परिवर्तन का अधिकार भी सम्मिलित है। स्टेनिस्लासवाद (1977) के प्रसिद्ध निर्णय में उच्चतम न्यायालय द्वारा मध्य प्रदेश और उड़ीसा सरकारों द्वारा बनाई गई विधि को वैधानिक माना गया। न्यायपालिका ने यह स्पष्ट रूप से कहा कि लोभ, कपट और बल के आधार पर धर्म परिवर्तन से लोकव्यवस्था क्षतिग्रस्त हो सकती है। यहां यह उल्लेखनीय है कि व्यक्तिगत रूप में कोई भी व्यक्ति धर्म परिवर्तन कर सकता है, लेकिन लोभ, कपट एवं बल का प्रयोग न किया जाए।

(B) धार्मिक गतिविधियों के प्रबंध का अधिकार

पंथनिरपेक्ष राज्यों में व्यक्तियों को धार्मिक कार्य की स्वतंत्रता होती है। इसीलिए धर्मावलंबियों को अपने कार्यों के प्रबंध का अधिकार दिया गया है। धार्मिक कार्यों का प्रबंध भी धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार में सम्मिलित हैं। लोकव्यवस्था, सदाचार एवं स्वास्थ्य के आधार पर प्रतिबंध के अंतर्गत् सभी **धार्मिक समुदायों या उनके वर्गों का निम्न अधिकार होगा** -

- धर्म के प्रयोजनार्थ और धार्मिक दान की प्राप्ति के लिए संस्थाओं की स्थापना और उनको बनाए रखना।
- धार्मिक कार्यों का प्रबंध करना।
- चल-अचल संपत्ति अर्जन एवं प्राप्त करना।
- संपत्ति का विधि के अनुसार प्रशासन करना।

अनुच्छेद-25 के तहत् व्यक्तिगत स्तर पर धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गई है, जबकि अनुच्छेद-26 धार्मिक समूहों एवं वर्गों को अधिकार प्रदान करता है। यह उल्लेखनीय है कि संपत्ति का अधिकार, अब मूल अधिकार का भाग नहीं है, परंतु धार्मिक संस्थाओं को अभी भी संपत्ति के अर्जन का मूल अधिकार प्राप्त है।

(C) धार्मिक उद्देश्यों हेतु करारोपण पर प्रतिबंध

पंथनिरपेक्ष राज्य की विशेषता इस प्रावधान में भी विद्यमान है, क्योंकि सरकार के निर्माण में बहुमत समुदाय का प्रभाव होता है, परंतु बहुमत समुदाय धार्मिक आधार पर अल्पसंख्यकों के साथ भेदभाव नहीं कर सकता। इसीलिए राज्य किसी धर्म विशेष के प्रोत्साहन के लिए कर नहीं लगा सकता तथा राज्य सरकारी धन को किसी विशेष धर्म या संप्रदाय की उन्नति के लिए उपयोग नहीं करेगा। परंतु न्यायालय के अनुसार, राज्य सभी धर्मों को समान महत्व देते हुए धार्मिक कार्यों तथा धार्मिक उत्सव के प्रबंध हेतु सरकारी धन का उपयोग कर सकता है। यह अनुच्छेद कर की उगाही पर रोक लगाता है, न कि शुल्क की। कर राज्य के द्वारा लोगों पर आरोपित किया जाता है, जिसके बदले व्यक्ति को कोई सुविधा देने की गारंटी नहीं दी जाती। जबकि शुल्क के बदले राज्य आम लोगों को सेवाएं प्रदान करता है। अत: राज्य धार्मिक सुविधाएं प्रदान करने के लिए शुल्क ले सकता है, (अनुच्छेद-27)।

(D) शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा पर प्रतिबंध

शैक्षणिक संस्थाएं बच्चों के विचारों को प्रभावित करने के महत्वपूर्ण माध्यम हैं। अत: शैक्षणिक संस्थाओं के माध्यम से राज्य बहुसंख्यक समुदाय के धर्म अथवा संस्कृति का प्रचार न कर सके। इस अनुच्छेद (28) में निम्नलिखित प्रकार की शिक्षण **संस्थाओं का उल्लेख किया गया है** -

- राज्य द्वारा निर्मित और पूर्णत: वित्त संचालित किसी भी शैक्षणिक संस्था में कोई भी धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती। केंद्रीय विश्वविद्यालय व केंद्रीय विद्यालय में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती, परंतु किसी विश्वविद्यालय में अकादमिक अनुसंधान के लिए धार्मिक शिक्षा का प्रावधान हो सकता है। उदाहरण के लिए, अनेक विश्वविद्यालयों में बौद्ध धर्म अनुसंधान केंद्र स्थापित किया गया है।

- वे शैक्षणिक संस्थाएं, जो राज्य द्वारा अनुदान प्राप्त तथा मान्यता प्राप्त हों, तो ऐसी स्थिति में धार्मिक शिक्षा छात्र की सहमति से और यदि बच्चा अल्पवयस्क है, तो बच्चों के अभिभावकों की सहमति द्वारा धार्मिक शिक्षा दी जा सकती है।
- ऐसी शैक्षणिक संस्था, जो किसी ट्रस्ट द्वारा संचालित है, उसमें धार्मिक शिक्षा दी जा सकती है, क्योंकि पंथनिरपेक्ष राज्य में धार्मिक समूहों को शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना का अधिकार है और वे धार्मिक शिक्षा भी दे सकते हैं। जैसे–आर्य समाज के द्वारा स्थापित शैक्षणिक संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा दी जाती है।

धार्मिक अधिकार एवं जीवन के अधिकार

उच्चतम न्यायालय के द्वारा अधिकारों की व्याख्या करते हुए यह स्वीकार किया गया है कि मूल अधिकारों में भी कुछ अधिकार अन्य अधिकारों से ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। न्यायालय के समक्ष जीवन के अधिकार एवं धार्मिक अधिकारों के बीच टकराव को हल करने के मुद्दे भी उपस्थित हुए। जैन धर्मावलंबियों के द्वारा अपनाई गई संथारा की प्रथा के अंतर्गत् धर्मावलंबी स्वैच्छिक रूप में अपने प्राण का परित्याग कर देते हैं, जिसे जीवन के अधिकारों का हनन माना गया। क्योंकि भारतीय जनसंहिता में आत्महत्या को दंडनीय अपराध माना गया है। परंतु जैन धर्मावलंबी संथारा को आत्महत्या नहीं मानते, अपितु एक धार्मिक एवं आध्यात्मिक अनुभूति के रूप में चित्रित करते हैं। इसके बावजूद धार्मिक एवं जीवन के विकारों के बीच टकराव की स्थिति में जीवन के विकारों को ज्यादा महत्व दिया जाना चाहिए। उच्चतम न्यायालय ने धार्मिक विकारों की व्याख्या करते हुए कहा है कि **धर्म में दो प्रकार के तत्व होते हैं** –

1. धर्म के मूल तत्व। (Essential Features)
2. धर्म के गौंण तत्व। (Non-Essential Features)

यद्यपि यह विवाद का विषय है कि संथारा धर्म का मूल तत्व है अथवा गौंण भाग। परंतु न्यायालयों ने अपने अनेक निर्णयों में यह स्पष्ट कहा है कि धार्मिक स्थानों में लाउडस्पीकर का प्रयोग तथा पशुओं की बलि धार्मिक अधिकारों का गौंण भाग है। दीपावली के दौरान पटाखों पर प्रतिबंध के लिए न्यायालय में याचिका दायर किया गया, क्योंकि शुद्ध पर्यावरण जीवन के अधिकार का भाग है। लेकिन उच्चतम न्यायालय ने पटाखे बजाने पर प्रतिबंध नहीं लगाया, परंतु पटाखों की बिक्री पर प्रतिबंध आरोपित कर दिया।

5. अल्पसंख्यकों के संस्कृति व शिक्षा संबंधी अधिकार (Cultural and Educational Rights)

किसी समाज में अल्पसंख्यकों की सुरक्षा एवं संरक्षण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। भारतीय संविधान में भी इनके संरक्षण के लिए विशेष व्यवस्था की गई है। भारतीय संविधान में भाषाई एवं धार्मिक आधार पर अल्पसंख्यकों का निर्धारण होता है। मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, जैन एवं बौद्ध धर्म को मानने वाले व्यक्ति को अल्पसंख्यकों में शामिल किया गया है, जिससे इस समुदाय के लोग अपनी संस्कृति को संरक्षित करने के लिए शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना कर सकते हैं तथा अपने समुदाय के लोगों के लिए विद्यालयों में आरक्षण भी प्रदान कर सकते हैं।

(A) भाषा, लिपि एवं संस्कृति के संरक्षण का अधिकार

अनुच्छेद-29(1) में भारतीय नागरिकों के किन्हीं वर्गों को भाषा, लिपि और संस्कृति को बनाए रखने एवं उनके संरक्षण का अधिकार प्रदान किया गया है। राज्य द्वारा वित्तीय सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में जाति, भाषा, प्रजाति एवं धर्म के आधार पर किसी भी व्यक्ति को प्रवेश से वंचित नहीं किया जाएगा, (अनुच्छेद-29(2))। यह भारतीय संविधान की विशिष्टता है कि अधिकार, व्यक्ति और समूह दोनों को प्राप्त हैं। संप्रति बहुसंस्कृतिवादी युग में पूरी दुनिया में अल्पसंख्यकों के अधिकारों को मान्यता दी जा रही है। भारतीय समाज की विविधता के बारे में यह पंक्ति **''कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर वाणी''** एक सटीक टिप्पणी है, जिसका ध्यान संविधान निर्माताओं ने रखा और समूह को भी अधिकार प्रदान कियज्ञं

(B) शिक्षण संस्थानों की स्थापना व प्रबंध का अधिकार

अनुच्छेद-30(1) में अल्पसंख्यक वर्गों को निम्नलिखित अधिकार प्रदान किया गया है - **प्रथम,** भाषाई एवं धार्मिक अल्पसंख्यकों को अपनी शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना एवं उनके प्रबंध का अधिकार प्राप्त है। **द्वितीय,** राज्य अल्पसंख्यक वर्ग की शिक्षण संस्थाओं के संपत्ति अर्जन पर निर्धारित राशि प्रदान करेगी। यह भी उल्लिखित है कि राज्य द्वारा शिक्षण संस्थाओं को दिए गए अनुदान में इस आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा कि वे अल्पसंख्यकों के प्रबंध के अंतर्गत् हैं, (अनुच्छेद-30(2))।

अल्पसंख्यक का अभिप्राय

संविधान में **अल्पसंख्यक** शब्द को परिभाषित नहीं किया गया है, परंतु अनुच्छेद-30 के अंतर्गत् अल्पसंख्यकों के दो (भाषा एवं धर्म) आधारों का उल्लेख है। उच्चतम न्यायालय के निर्णय के अनुसार, अल्पसंख्यकों का निर्धारण अखिल भारतीय रूप में नहीं होगा, अपितु राज्यों के अनुसार किया जाएगा, क्योंकि भारत में राज्यों का निर्माण भाषाई आधार पर किया गया है। न्यायपालिका के अनुसार, जिस समुदाय की जनसंख्या 50 प्रतिशत से कम है, उसे अल्पसंख्यक की श्रेणी में रखा जाएगा।

अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थान

ऐसी शैक्षणिक संस्थाएं, जो अल्पसंख्यक समुदाय के द्वारा स्थापित हैं, उन्हें अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थान कहा जाएगा। इनमें भाषा एवं संस्कृति के संरक्षण के लिए निर्मित संस्थान हो सकती है अथवा तकनीकी एवं प्रबंधकीय विषयों के अध्ययन के लिए भी संस्थानों की स्थापना का अधिकार होगा। राज्य के द्वारा आर्थिक सहायता के कारण किसी संस्थान को अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थान से बाहर नहीं रखा जाएगा।

स्थापना एवं प्रबंधन का अधिकार

उच्चतम न्यायालय ने अल्पसंख्यकों के शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना एवं प्रबंध की व्याख्या करते हुए कहा कि इन्हें फीस के निर्धारण का अधिकार है, लेकिन कैपिटेशन फीस या डोनेशन लेने का अधिकार नहीं है, क्योंकि शैक्षणिक संस्थाएं व्यावसायिक संस्थाएं नहीं हैं। ये गैर-अल्पसंख्यक छात्रों के प्रवेश की सीटें निश्चित कर सकती हैं। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि गैर-अल्पसंख्यक छात्रों के प्रवेश की सीटों की संख्या निश्चित नहीं की जा सकती, क्योंकि अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थान के स्थान और प्रकृति के द्वारा सीटों का निर्धारण किया जाएगा। अल्पसंख्यक संस्थान को कर्मचारियों की नियुक्ति का अधिकार प्राप्त है। उच्चतम न्यायालय ने टी. एम. ए. पाई फॉउण्डेशन (TMA Pai Foundation, 2003) में सरकार से अनुदान न प्राप्त करने वाले शैक्षणिक संस्थाओं के संबंध में निर्णय दिया, परंतु उच्चतम न्यायालय ने यह भी कहा कि यदि कोई अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थान सरकार से अनुदान प्राप्त करती है, तो उसकी स्वायत्तता प्रभावित नहीं होगी। लेकिन अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थाओं को अकादमिक सत्र का निर्धारण, अकादमिक अर्हता का निर्धारण एवं शिक्षकों की योग्यता के निर्धारण में सरकार के निर्देशन का पालन करना पड़ेगा।

93वें संविधान संशोधन, 2005 के द्वारा सभी प्रकार की केंद्रीय शैक्षणिक संस्थाओं तथा निजी शैक्षणिक संस्थाओं में (गैर-अनुदान प्राप्त भी) सामाजिक व शैक्षणिक रूप में पिछड़े वर्गों, अनुसूचित जाति व जनजाति के आरक्षण का प्रावधान किया गया है, जिसमें अल्पसंख्यक संस्थाएं सम्मिलित नहीं हैं। इसी स्वायत्तता के प्रावधानों के अनुसार, वर्ष-2014 में उच्चतम न्यायालय के द्वारा दिए गए महत्वपूर्ण निर्णय में कहा गया है कि शिक्षा के अधिकार के अंतर्गत् लागू होने वाला आरक्षण अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थाओं पर लागू नहीं होंगी।

6. संपत्ति का अधिकार (Right to Property)

भारत के मूल संविधान में संपत्ति का अधिकार भाग-3 में वर्णित मूल अधिकारों का महत्वपूर्ण भाग था। संविधान के अनुच्छेद-31(1) के अनुसार, किसी भी व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही संपत्ति के अधिकार से वंचित किया जा सकता है। अनुच्छेद-31(2) के अनुसार, राज्य द्वारा व्यक्ति से संपत्ति अर्जित की जा सकती है, **बशर्ते** -

- संपत्ति सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए ग्रहण की जाए।
- सरकार के द्वारा उचित मुआवजा प्रदान किया जाए।

अनुच्छेद-19(1)(f) के अंतर्गत् प्रत्येक नागरिक को संपत्ति के अर्जन और उसके विक्रय की स्वतंत्रता प्रदान की गई है।

समाप्ति के कारण

निदेशक तत्वों को क्रियान्वित करने के लिए संपत्ति के अधिकार को सीमित किया गया तथा बाद में इसे मूल अधिकारों के भाग से हटा दिया गया। भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना की गई, जिसमें निदेशक तत्वों को लागू करने के लिए सरकार के द्वारा विभिन्न विधियों के साथ-साथ अनेक नीतियों का निर्माण किया गया। भूमि सुधार कार्यक्रम को लागू करने के लिए तथा जमींदारी के उन्मूलन के लिए संपत्ति के अधिकारों को मूल अधिकार के अध्याय से हटाया गया। संपत्ति के अधिकार की रक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय में अनेक याचिकाएं दायर की गईं, जिससे सामाजिक न्याय की स्थापना में अड़चनें आने लगीं, परिणामस्वरूप संपत्ति के अधिकार को मूल अधिकारों के भाग से स्थानांतरित कर दिया गया।

संपत्ति के अधिकार की समाप्ति

- अनुच्छेद-31(A) के द्वारा संपत्ति के अधिकार को सीमित करते हुए कहा गया कि कृषि योग्य भूमि का अर्जन, खानों के लीज का प्रावधान, दो वाणिज्यिक घरानों के विलय किसी वाणिज्यिक संस्था में उसके निदेशकों के शेयर को निर्यत्रित करने के प्रावधानों को संपत्ति के मूल अधिकार से बाहर कर दिया गया और यह कहा गया कि इस संदर्भ में सरकार किसी विधि का निर्माण कर सकती है, जो मूल अधिकारों का उल्लंघन नहीं माना जाएगा।
- अनुच्छेद-31(B) के द्वारा 9वीं अनुसूची का निर्माण किया गया, इसमें शामिल किसी भी अधिनियम अथवा नियंत्रणकारी प्रावधानों का मूल अधिकारों के हनन के आधार पर न्यायिक पुनरावलोकन नहीं होगा। 9वीं अनुसूची में भूमि सुधार से संबंधित विधियों को सम्मिलित किया गया।
- प्रथम संविधान संशोधन अधिनियम, 1951 के बाद सरकार के द्वारा भूमि अर्जित करने का रास्ता साफ हो गया, परंतु मुआवजे को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया, क्योंकि संविधान में मुआवजों को परिभाषित नहीं किया गया था।
- वर्ष-1955 में चौथे संविधान संशोधन के अनुसार, उच्चतम न्यायालय के द्वारा मुआवजे की अपर्याप्तता पर सवाल नहीं उठाया जा सकता।
- 25वें संविधान संशोधन, 1971 के द्वारा **मुआवजे** शब्द को ही संविधान से हटा दिया गया और इसके स्थान पर **राशि** का प्रयोग किया गया। इसी संविधान संशोधन से ही एक नया अनुच्छेद-31(c) जोड़ा गया, जिसके द्वारा यह कहा गया कि निदेशक तत्वों के अनुच्छेद-39(b)(c) को लागू करने के लिए मूल अधिकारों के अनुच्छेद-14, 19 एवं 31 का उल्लंघन किया जा सकता है।
- 26वें संविधान संशोधन, 1971 के द्वारा राजा-महाराजाओं को दिए जा रहे प्रिवी पर्स या वार्षिक पेंशन (Privy Purse) को समाप्त कर दिया गया।
- 42वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1976 के द्वारा संपत्ति के अधिकारों को सीमित करते हुए यह कहा गया कि सभी नीति निदेशक तत्वों को लागू करने के लिए मूल अधिकारों के अनुच्छेद-14, 19 एवं 31 का उल्लंघन किया जा सकता है।
- 44वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1978 के द्वारा अनुच्छेद-31(1), 31(2) एवं 19(1)(f) संपत्ति के अधिकार को भाग-3 के मूल अधिकारों से हटा दिया गया, जिसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान में कोई भी व्यक्ति संपत्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए सीधे उच्चतम न्यायालय नहीं जा सकता।

संपत्ति के मूल अधिकार के अवशेष

44वें संविधान संशोधन, 1978 के द्वारा संपत्ति के अधिकार को अनुच्छेद-300(A) में शामिल कर दिया गया। अतः संपत्ति का अधिकार अब वैधानिक अधिकार है, मूल अधिकार नहीं। वैधानिक अधिकार का अर्थ है कि सरकार के द्वारा अब किसी विधि के निर्माण के बिना व्यक्ति से संपत्ति नहीं ली जाएगी। संपत्ति के अधिकार का अवशेष मौलिक अधिकार में अभी भी है, **जो निम्नलिखित हैं** -

- यदि किसी अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थान की जमीन अधिग्रहित की जाती है, तो उसे बाजार दर पर राशि का भुगतान करना होगा।
- यदि किसी व्यक्ति की कृषि योग्य भूमि अधिग्रहित की जाती है, जो हदबंदी की सीमा के अंतर्गत् है, तो उस जमीन की कीमत का भुगतान सरकार को बाजार दर पर करना होगा।

7. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (Right to Constitutional Remedies)

मौलिक अधिकारों का प्रावधान बिना उपचारों के खोखला है। यदि अधिकार प्रदान कर दिया जाए तथा उनके संरक्षण की व्यवस्था न हो, तो वह व्यर्थ है। इसीलिए डॉ. अंबेडकर ने अनुच्छेद-32 को **संविधान की आत्मा** कहा। यह अधिकार अन्य अधिकारों को प्रकार्यात्मक बनाता है। मौलिक अधिकारों के हनन की स्थिति में **उच्चतम न्यायालय निम्नलिखित पांच प्रकार की रिटें जारी करता है। जैसे** - 1. बंदी प्रत्यक्षीकरण। 2. परमादेश। 3. अधिकार पृच्छा। 4. उत्प्रेषण। 5. प्रतिषेध।

अनुच्छेद-32 के अंतर्गत् केवल उच्चतम न्यायालय के द्वारा ही मूल अधिकारों की रक्षा का प्रावधान है। संपूर्ण भारतीय क्षेत्र से कोई भी व्यक्ति अपने मूल अधिकारों की रक्षा के लिए सीधे उच्चतम न्यायालय जा सकता है। संसद के द्वारा भारत के अन्य न्यायालयों को भी मूल अधिकारों के रक्षा की शक्ति प्रदान की जा सकती है, परंतु इससे उच्चतम न्यायालय की

शक्ति प्रभावित नहीं होनी चाहिए। मूल अधिकारों की रक्षा के लिए परंपरागत् प्रक्रिया के अनुसार जिस व्यक्ति के मूल अधिकारों का हनन हुआ है, वही उच्चतम न्यायालय के समक्ष जाएगा। वर्तमान में उच्चतम न्यायालय ने परंपरागत् प्रक्रिया को परिवर्तित कर दिया है, जिसके अनुसार कोई तीसरा व्यक्ति भी समूह के मूल अधिकारों की रक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय जा सकता है। परंपरागत् रूप से मूल अधिकारों की रक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय में वही व्यक्ति जा सकता था, जिसके मूल अधिकारों का उल्लंघन हुआ हो, परंतु अब समूह के अधिकारों की रक्षा के लिए कोई समाज सेवी भी उच्चतम न्यायालय जा सकता है। अत: उच्चतम न्यायालय ने इस प्रक्रिया को और सरल बना दिया है।

1. बंदी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus Writ)

यह लैटिन शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है - **सशरीर उपस्थित होना।** इस रिट के द्वारा न्यायालय व्यक्ति को सशरीर अपने सामने उपस्थित कराता है, जिससे न्यायालय उसके बंदी बनाए जाने के कारणों को जान सके। यदि बंदी रखना अवैधानिक है, तो न्यायालय उस व्यक्ति को मुक्त कर सकता है। यह रिट सरकारी अधिकारी एवं निजी लोगों, दोनों को जारी हो सकती है। निम्नलिखित मामलों के विरुद्ध बंदी प्रत्यक्षीकरण की **याचिका का प्रयोग नहीं किया जा सकता** -

- यदि न्यायपालिका ने आपराधिक मामले में किसी व्यक्ति को सजा दी हो।
- न्यायालय की अवमानना या संसदीय विशेषाधिकार की अवमानना का व्यक्ति दोषी हो।
- निवारक नजरबंदी के अंतर्गत् बंदी बनाए गए लोगों के लिए इसका उपयोग नहीं होगा।

2. परमादेश (Mandamus)

यह एक लैटिन शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है - **आज्ञा देना**। परमादेश के तहत् ऐसे व्यक्ति को आदेश दिया जाता है, जो किसी सार्वजनिक (सरकारी) पद पर बैठा हो या उसका कोई अर्द्ध-सरकारी कानूनी कार्य हो तथा उसने अपने कर्त्तव्य पालन में लापरवाही बरती हो अथवा कार्य करने से मना कर दिया हो। यह आदेश उच्चतर न्यायालयों द्वारा निम्नतर न्यायालयों को भी दिया जा सकता है। राष्ट्रपति और राज्यपाल के विरुद्ध परमादेश रिट का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

3. अधिकार पृच्छा (Quo-Warranto)

इसके द्वारा किसी व्यक्ति को सरकारी पद प्राप्त करने से प्रतिबंधित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी पद के अवकाश प्राप्ति हेतु उम्र 62 वर्ष है, तो 65 वर्ष के व्यक्ति की नियुक्ति नहीं हो सकती। इस रिट के अंतर्गत् न्यायालय सार्वजनिक (सरकारी) पद धारण करने वाले किसी व्यक्ति के दावे की वैधता की जांच करता है। यदि उसका दावा सही नहीं है, तो न्यायालय उसे उसके पद से हटा सकता है। **अधिकार पृच्छा जारी करने के लिए शर्तें** -

- पद सार्वजनिक (सरकारी) होना चाहिए तथा वह पद किसी कानून या संविधान द्वारा सृजित हो।
- पद निजी नहीं होना चाहिए।
- ऐसे व्यक्ति को पद पर नियुक्ति करने में विधि का उल्लंघन हुआ हो।

4. उत्प्रेषण (Certiorari)

यह एक लैटिन शब्द है, जिसका अभिप्राय प्रमाणित करना अर्थात् **मंगा लेना** है। उच्चतम न्यायालय कोई भी मामला अपने पास मंगा सकता है। **उत्प्रेषण निम्नलिखित मामलों में जारी होती है** -

- जब किसी न्यायालय ने अपने क्षेत्राधिकार का उल्लंघन किया हो।
- उत्प्रेषण की रिट तब जारी की जाती है, जब संबंधित मामले में निचले न्यायालय ने अपना निर्णय दे दिया हो। अत: उत्प्रेषण की रिट निर्णय देने के बाद में जारी की जाती है।
- सामान्यत: उच्चतम न्यायालय का मानना है कि इसका प्रयोग विशुद्ध प्रशासनिक मामलों में नहीं किया जाना चाहिए, परंतु बाद में वैधानिक एवं प्रशासनिक दोनों मामलों में उत्प्रेषण रिट का प्रयोग किया जाने लगा।

5. प्रतिषेध (Prohibition)

यह एक लैटिन शब्द है, जिसके द्वारा किसी कार्य के संपादन को प्रतिबंधित किया जाता है। यह निवारात्मक याचिका है, जिसका प्रयोग न्यायपालिका द्वारा उस समय किया जाता है, जब न्यायपालिका में मामला विचाराधीन हो। अत: प्रतिषेध किसी वाद के पहले चरण में दिया जाता है। प्रतिषेध के अंतर्गत् उच्चतम न्यायालय, निचले न्यायालय को संबंधित मामले में कार्य करने से रोक देता है।

परमादेश एवं प्रतिषेध में कुछ मौलिक अंतर हैं। परमादेश के अंतर्गत् न्यायपालिका के द्वारा कुछ कार्य करने का निर्देश दिया जाता है। जबकि प्रतिषेध के अंतर्गत् कार्य करने के लिए मना किया जाता है। प्रतिषेध का प्रयोग सामान्यत: न्यायिक

और अर्द्ध-न्यायिक निकायों के विरुद्ध किया जाता है। उत्प्रेषण एवं प्रतिषेध की याचिकाएं उच्चतर न्यायालय से निम्न/अवर न्यायालयों को जारी की जाती हैं। प्रतिषेध के अंतर्गत् अवर न्यायालय को किसी वाद में कार्य करने से मनाही की जाती है, जबकि यदि किसी अवर न्यायपालिका ने किसी विषय पर अपना निर्णय दे दिया हो, तो उच्चतर न्यायपालिका के द्वारा उत्प्रेषण के तहत् मुकदमा मंगाया जा सकता है।

पूर्व न्याय (Res Judicata)

यह एक लैटिन शब्द है, जिसका अंग्रेजी अभिप्राय है - Things decided Earlier. इसके अनुसार, उच्चतम न्यायालय के द्वारा अनुच्छेद-32 के अंतर्गत् जिन वादों का निर्धारण किया जा चुका है, उसे दुबारा उच्चतम न्यायालय के समक्ष नहीं लाया जा सकता, परंतु इसके कुछ अपवाद भी हैं। बंदी प्रत्यक्षीकरण के मामले में यह सिद्धांत लागू नहीं होता। इसलिए न्यायालय के समक्ष कोई वाद बार-बार लाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कोई नए सबूत मिलने के आधार पर भी उच्चतम न्यायालय के समक्ष कोई वाद पुन: लाया जा सकता है।

मूल अधिकारों पर प्रतिबंध

1. सैन्य बल, अर्द्ध-सैन्य बल एवं मूल अधिकार

अनुच्छेद-33 के अंतर्गत् सैन्य बलों के सदस्यों एवं सैन्य बलों के उन सदस्यों का जिनके द्वारा लोक व्यवस्था निर्मित होती है अथवा राज्य के द्वारा आसूचना से संबंधित संगठनों में शामिल कर्मचारियों के लिए अथवा आसूचना से संबंधित संचार व्यवस्था में कार्य करने वाले कर्मचारियों के मूल अधिकारों को सीमित किया जा सकता है। अनुच्छेद-33 के अंतर्गत् संसद को यह भी अधिकार है कि वह सैन्य बलों और अर्द्ध-सैनिक बलों के सदस्यों के लिए मूल अधिकार को प्रतिबंधित कर सकती है। इसके अंतर्गत् विधि-निर्माण की यह शक्ति केवल संसद को प्रदान की गई है, विधान सभाओं को नहीं। इसका मूल उद्देश्य सैन्य बलों एवं अर्द्ध-सैन्य बलों में अनुशासन बनाए रखना है। इसके अंतर्गत् **संसद ने निम्नलिखित विधियों का निर्माण किया है -**

- सेना एक्ट, 1950
- एयर फोर्स एक्ट, 1950
- नेवी एक्ट, 1950
- पुलिस फोर्स अधिकार परिसीमन एक्ट, 1966
- सीमा सुरक्षा बल एक्ट, 1968

2. सैन्य अधिनियम एवं मूल अधिकार

अनुच्छेद-34 के अंतर्गत् भारत के किसी भी क्षेत्र में यदि सैन्य अधिनियम लागू है, तो संसद को यह शक्ति प्राप्त है कि मूल अधिकारों पर प्रतिबंध आरोपित कर सकती है। संसद, विधि के द्वारा सरकारी कर्मचारियों द्वारा किए गए कार्यों और उनके द्वारा पारित नियमों को वैध ठहरा सकती है। संसद के द्वारा इस अधिनियम के अंतर्गत् व सैन्य अधिनियम के अंतर्गत् दिए गए दण्ड को भी वैधानिक बनाया जा सकता है। यह समूचे भारतीय क्षेत्र में अथवा भारत के किसी एक भाग में विधि व्यवस्था बनाए रखने के लिए लागू किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, मणिपुर तथा जम्मू एवं कश्मीर में **सैन्य बल विशेष शक्ति अधिनियम** लागू है। अफस्पा (Armed Forces (Special Powers) Acts,1958 (AFSPA) के दौरान संसद सैन्य बलों के कार्यों को उचित ठहरा सकती है। इसके अंतर्गत् विधि व्यवस्था बनाए रखने की शक्ति नागरिक प्रशासन के बजाए, सेना को सौंप दिया जाता है। देश के किसी भी भाग में विद्रोह अथवा उपद्रवी गतिविधियों को नियंत्रित करने के लिए सैन्य अधिनियम का प्रयोग किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि सैन्य अधिनियम का प्रावधान आपातकाल के प्रावधान से बिल्कुल अलग है। युद्ध, वाह्य आक्रमण तथा सशस्त्र संघर्ष के द्वारा यदि भारत की सुरक्षा अथवा किसी भाग की सुरक्षा खतरे में है, तब आपातकाल का प्रयोग किया जाता है।

सैन्य बल विशेष शक्ति अधिनियम, 1958

सैन्य बल विशेष शक्ति अधिनियम जम्मू एवं कश्मीर में लागू किया गया। यह उल्लेखनीय है कि उत्तरी-पूर्वी राज्यों में इसे वर्ष-1958 से ही लागू किया गया है। इसके अंतर्गत् राष्ट्रपति अथवा राज्यपाल किसी भी राज्य के समूचे भाग अथवा उसके किसी क्षेत्र को अशांति का क्षेत्र घोषित कर सकते हैं। इसके अंतर्गत् क्षेत्र में लोक व्यवस्था बनाए रखने का अधिकार सैन्य बलों को प्रदान कर दिया जाता है।

मूल अधिकारों का हनन

सेना के अधिकारी संदेह के आधार पर किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह को गोली मारने की शक्ति रखते हैं और इनके द्वारा किसी भी सार्वजनिक स्थान, निजी मकान का विध्वंस किया जा सकता है। यदि इनका प्रयोग सेना पर हमले अथवा उपद्रवियों को प्रशिक्षण देने के लिए किया जाए। सैन्य अधिकारियों के द्वारा बिना वारेंट के किसी भी व्यक्ति को हिरासत में लिया जा सकता है और इसके अतिरिक्त सैन्य अधिकारी किसी भी घर की तलाशी व घर में प्रवेश कर सकते हैं। इनके द्वारा किसी भी वाहन को रोका जा सकता है और उसकी तलाशी भी ली जा सकती है एवं उस वाहन को जब्त भी किया जा सकता है। अधिकारियों के द्वारा किसी भी दरवाजे अथवा आलमारी की तलाशी लेने और इसे तोड़ने की भी शक्ति प्राप्त है।

सेना का दृष्टिकोण

राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता बनाए रखना राज्य का प्राथमिक दायित्व है। जम्मू एवं कश्मीर में विद्यमान उपद्रवी गतिविधियों के कारण भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा और स्थायित्व पर खतरा निर्मित हो चुका है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में कार्य करने के लिए सैन्य अधिकारियों को वैधानिक संरक्षण देने की आवश्यकता है, जिससे सैन्य अधिकारियों का मनोबल बना रहे और उनको अनावश्यक कार्यवाही से बचाया जा सके। जम्मू एवं कश्मीर और उत्तरी-पूर्वी राज्यों में भारत छद्म-युद्ध का सामना कर रहा है। इसलिए सुरक्षा बलों के लिए अत्यधिक प्रतिकूल परिस्थितियों में कार्य करने की चुनौती विद्यमान है। भारतीय सैन्य बल विश्व के बेहतर प्रशिक्षित सैन्य बलों में सम्मिलित हैं। इसलिए जान-बूझकर इनके द्वारा मानवाधिकारों का उल्लंघन नहीं किया जाएगा।

मानवाधिकार कार्यकर्ताओं का पक्ष

सैन्य अधिनियम थोड़े समय के लिए लागू होने वाले विशेष व आपवादिक प्रावधान हैं, जिनका लंबे समय तक प्रयोग करना बिल्कुल औचित्यपूर्ण नहीं है। इनके द्वारा सैन्य बलों को मूल अधिकारों के हनन की शक्ति प्राप्त हो जाती है। सैन्य अधिकारियों के द्वारा किसी व्यक्ति की हत्या या किसी सामग्री के क्षतिग्रस्त करने के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही संभव नहीं है। भारत, संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा मानवाधिकारों के अनेक समझौतों पर हस्ताक्षर करने वाला देश है, परंतु इस अधिनियम के द्वारा भारत की अंतर्राष्ट्रीय छवि को भी नुकसान हो रहा है। इस अधिनियम के अंतर्गत् लगभग 5 लाख सेना के अधिकारी जम्मू एवं कश्मीर में तैनात किए गए हैं। ऐसा आरोप है कि सैन्य अधिकारियों के द्वारा नागरिकों के साथ बलात्कार, अपहरण तथा उनके साथ अमानवीय व्यवहार किए जा रहे हैं।

न्यायालय का दृष्टिकोण

वर्ष-2017 में उच्चतम न्यायालय के द्वारा दिए गए एक महत्वपूर्ण निर्णय में यह कहा गया कि पूर्वोत्तर राज्यों में वर्ष-1958 से तथा कश्मीर में वर्ष-1988 से आस्फा लगाया गया है और इतने लंबे समय तक इसका प्रयोग आपत्तिजनक है। उच्चतम न्यायालय ने तो यहां तक कहा कि यदि आस्फा को बनाए रखने के लिए तैनात कर्मियों के द्वारा शक्ति का मनमानी दुरूपयोग किया गया, तो ऐसे अधिकारियों के विरूद्ध सामान्य न्यायालयों में भी मामले चलाए जा सकते हैं।

लोकतांत्रिक देश में समस्याओं का समाधान भी लोकतांत्रिक होना चाहिए और राजनीतिक समस्याओं का समाधान राजनीति से होना चाहिए, बंदूक से नहीं। इसलिए आस्फा में संशोधन किया जाए अथवा इसे क्रमिक रूप में हटाने पर भी विचार करना चाहिए।

मूल अधिकारों को प्रभावी बनाने के लिए विधि-निर्माण

भारतीय संविधान के भाग-3 में वर्णित मूल अधिकारों में दो प्रकार के अधिकार वर्णित हैं - **प्रथम**, वे अधिकार, जो संविधान लागू होने के बाद स्वाभाविक रूप में लागू हो जाते हैं तथा **द्वितीय**, कुछ मूल अधिकारों को लागू करने के लिए संसदीय विधि के निर्माण की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, छुआछूत एक दंडनीय अपराध है, जिसका उल्लेख अनुच्छेद-17 में किया गया है तथा इसे लागू करने के लिए संसदीय विधि के निर्माण की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त शोषण के विरुद्ध अधिकार को लागू करने के लिए संसद के द्वारा विधि का निर्माण किया गया है। संसद को यह शक्ति अनुच्छेद-35 से प्राप्त होती है।

न्यायपालिका के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत

- **पृथक्करणीयता का सिद्धांत (Doctrine of Separability)** - यदि राज्य द्वारा निर्मित विधियों एवं मूल अधिकारों के मध्य विरोध उत्पन्न हो, तो विधि के केवल उस भाग को अवैध घोषित किया जाएगा, जो भाग मूल अधिकारों का

विरोधी हो और शेष भाग को वैध घोषित किया जाएगा। अत: न्यायपालिका द्वारा विधि के वैध और अवैध के मध्य अलगाव को ही **पृथक्करणीयता का सिद्धांत** कहा जाता है।

- **आच्छादन का सिद्धांत (Doctrine of Eclipse)** - यदि मूल अधिकारों एवं पूर्व संवैधानिक विधियों के मध्य गतिरोध हो, तो मूल अधिकार, पूर्व संवैधानिक विधियों को आच्छादित कर लेते हैं। अत: पूर्व सांविधानिक विधियां समाप्त नहीं होतीं, बल्कि आच्छादित हो जाती हैं। इसलिए व्यवहार में इनका प्रभाव समाप्त हो जाता है।
- **भविष्यलक्षी विधि का सिद्धांत (Prospective Overruling)** - भविष्यलक्षी विधि का सिद्धांत गोलकनाथ वाद में दिया गया तथा इस वाद में दिए गए निर्णय भविष्य में लागू होंगे। अत: इस निर्णय के पहले जिन मौलिक अधिकारों में संशोधन हो चुका है, या जो संशोधन हो चुके हैं, वे अवैध नहीं माने जाएंगे।

मौलिक अधिकारों का संशोधन

संविधान में मौलिक अधिकारों के अध्याय को विशेष संरक्षण प्रदान किया गया है, जिसके अनुसार, अनुच्छेद-13(2) न्यायालय को यह शक्ति प्रदान करता है कि वह मौलिक अधिकारों को विलोपित, परिवर्तित तथा संशोधित करने वाली विधियों का निरीक्षण करे तथा यदि कोई विधि, मौलिक अधिकारों का उल्लंघन करती हैं, तो न्यायालय उन विधियों को शून्य घोषित कर सकता है। **दूसरे शब्दों में,** उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय को यह अधिकार है कि वह मूल अधिकारों की रक्षा के लिए किसी भी विधि को असंवैधानिक घोषित कर दे। न्यायपालिका को मूल अधिकारों का संरक्षक बनाया गया है और संसद को अनुच्छेद-368 के अंतर्गत् संविधान के संशोधन की शक्ति दी गई है। संविधान में संसद के संशोधन शक्ति पर कोई प्रतिबंध नहीं है। अत: संसद अपने संशोधन शक्ति के द्वारा मूल अधिकारों के भाग को भी संशोधित कर सकती है। पहले संविधान संशोधन के द्वारा मूल अधिकारों को सीमित किया गया, इसीलिए पहले संविधान संशोधन को शंकरी प्रसाद वाद (1951) में उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई और यह कहा गया कि संसद के द्वारा मूल अधिकारों का उल्लंघन किया गया है। इसलिए संशोधन को असंवैधानिक घोषित किया जाए, परंतु न्यायपालिका ने निर्णय दिया कि संसद को मूल अधिकारों के संशोधन की शक्ति है। संसद अपनी विधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए मूल अधिकारों का संशोधन नहीं कर सकती, परंतु संसद संविधायी शक्ति का प्रयोग करते हुए मूल अधिकारों का संशोधन कर सकती है। उच्चतम न्यायालय के अनुसार, अनुच्छेद-13(2) में वर्णित विधि में संविधान संशोधन विधि शामिल नहीं है। न्यायपालिका के अनुसार, मूल अधिकारों को अनुच्छेद-13(2) में वर्णित सामान्य विधि के अनुसार संशोधित नहीं किया जा सकता, बल्कि अनुच्छेद-368 में वर्णित संविधान संशोधन विधि द्वारा संशोधित किया जा सकता है। अनुच्छेद-13(2) का प्रतिबंध सामान्य विधि पर लागू होता है, संशोधन विधि पर नहीं। न्यायपालिका के इस निर्णय के बाद संसद के द्वारा संशोधन करके मूल अधिकारों को सीमित कर दिया गया।

1. गोलकनाथ बनाम् पंजाब राज्य वाद (1967)

उच्चतम न्यायालय ने शंकरी प्रसाद वाद में दिए गए निर्णय को परिवर्तित कर दिया और यह कहा कि संसद को संविधान संशोधन के द्वारा भी मूल अधिकारों को समाप्त करने की शक्ति नहीं है। न्यायालय ने कहा कि संसद न तो विधायी शक्ति के द्वारा मूल अधिकारों को संशोधित और न ही संविधायी शक्ति के द्वारा मूल अधिकारों को संशोधित कर सकती है। उच्चतम न्यायालय के अनुसार, अनुच्छेद-13(2) में वर्णित विधि शब्द में संशोधन विधि भी शामिल है। उच्चतम न्यायालय के अनुसार, मूल अधिकार अत्यधिक पवित्र एवं महत्वपूर्ण है। गोलकनाथ वाद में 11 न्यायाधीशों की पीठ ने ऐतिहासिक निर्णय देते हुए कहा कि इनका संशोधन नहीं किया जा सकता। इस वाद में न्यायपालिका ने अनुच्छेद-13(2) में वर्णित विधि एवं अनुच्छेद-368 में वर्णित संविधान संशोधन विधि के अंतर को समाप्त कर दिया। अत: संविधान संशोधन विधि द्वारा भी मौलिक अधिकारों का संशोधन नहीं किया जा सकता। जिसके परिणामस्वरूप सरकार के द्वारा 24वां संविधान संशोधन, 1971 प्रस्तुत किया गया और यह उल्लिखित किया गया कि संशोधन विधि अनुच्छेद-13(2) में सम्मिलित विधि में शामिल नहीं है।

2. केशवानंद भारती बनाम् केरल राज्य वाद (1973)

इस वाद को लोकप्रिय रूप में मूल अधिकार वाद के रूप में भी जाना जाता है। इस वाद में न्यायपालिका ने गोलकनाथ वाद के निर्णय को पलट दिया। उच्चतम न्यायालय ने 24वें संविधान संशोधन, 1971 को संवैधानिक माना और न्यायपालिका के अनुसार, अनुच्छेद-13(2) में वर्णित विधि में संविधान संशोधन विधि शामिल नहीं है। अत: न्यायपालिका ने यह स्वीकार कर लिया कि संसद की विधायी और संविधायी शक्ति में अंतर है और संसद संविधायी शक्ति के द्वारा मूल अधिकारों के किसी भी भाग का परिवर्तन कर सकती है। न्यायपालिका ने यह माना कि संसद अनुच्छेद-368 के अनुसार

संविधान के किसी भी भाग को परिवर्तित कर सकती है, परंतु संसद संविधान के मूलभूत ढांचे का परिवर्तन नहीं कर सकती। न्यायपालिका ने इस वाद में आधारभूत ढांचे का सिद्धांत दिया। न्यायपालिका के अनुसार, संसद संविधान के आधारभूत ढांचे में शामिल भागों का संशोधन नहीं कर सकती। अत: मौलिक अधिकारों का जो भाग संविधान के आधारभूत ढांचे में शामिल हैं, उसका संशोधन नहीं किया जा सकता। अत: संसद के द्वारा संविधान के किसी भी भाग का परिवर्तन किया जा सकता है, जिसमें मूल अधिकारों का भाग भी सम्मिलित है, परंतु मूल अधिकारों के उन भागों का संशोधन नहीं हो सकता, जो आधारभूत ढांचे के भाग हैं और आधारभूत ढांचे का निर्धारण न्यायपालिका के द्वारा किया जाएगा।

निष्कर्ष

लोकतांत्रिक शासन में सरकार का मूल उद्देश्य अधिकारों का संरक्षण एवं संवर्धन है तथा लोकतांत्रिक शासन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता नागरिकों को प्राप्त स्वतंत्रता एवं अधिकार है और लोकतंत्र के विकास के विगत् वर्षों में अधिकारों का अत्यधिक विस्तार हो चुका है, जो भारतीय लोकतंत्र की परिपक्वता एवं प्रगतिशीलता का सूचक है।

....